जर्मनी का विकास

दूसरा भाग

लेखक

सूर्यकुमार वर्मा

१९१९

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस में मुद्रित।

मूल्य १)

विषय-सूची।

(दूसरा भाग)

जर्मनी का विकास ।

दूसरा भाग ।

तेरहवाँ अध्याय ।

छोटे पैमाने पर खेती का काम ।

कृषकों का जीवन सुखमय हो और दूसरों को जमीन का लगान देकर खेती द्वारा अपनी जीविका चलानेवाले लोगों का कल्याण हो, ऐसी सदिच्छा रखनेवाले कितने ही लोगों का मत है कि जर्मनी में बहुत से खेत ऐसे हैं जिनका बहुत बड़ा विस्तार है। इस कारण थोड़ी सी खेती करनेवालों को छोटे छोटे खेत न मिलने से, देश को हानि उठानी पड़ती है और इसी कारण कृषिप्रधान प्रांतों से शहरों की ओर मनुष्यों के जाने का जो स्रोत बढ़ रहा है उसके रोकने के लिये और खेती का काम करनेवालों को मजदूरों का टोटा न हो, यह आवश्यक है कि खेतों का विस्तार मर्यादित कर के, उन्हें किसानों अथवा खेती का काम करनेवाले मजदूरों को देने से, उनका अधिक उपयोग किया जा सकेगा।

अब तक साधारण तौर पर यह विचार था कि प्रशिया के उत्तर और पूर्व भाग की बड़ी बड़ी इस्टेटों को नष्ट करके उनकी जगह छोटी छोटी इस्टेटें (जमींदारियां) यदि बनाई जाँय तो खेती को बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी । बड़े बड़े पड़ोसी जमींदारों के कारण छोटे छोटे जमींदारों पर एक प्रकार का जो नैतिक प्रभाव है वह जाता रहेगा । अतएव कृषि का काम प्रायः नष्ट हो जायगा और स्थानिक स्वराज्य को बहुत बड़ा धक्का पहुँचेगा । ये विचार बड़े बड़े जमींदारों में बहुत दृढ़ थे; परंतु आनंद की बात इतनी ही थी कि सरकार को ये विचार बहुत कुछ नापसंद थे । तौभी पहले की वह स्थिति अब बदल गई है । बड़ी बड़ी इस्टेटों (जमींदारियों) को विशेष उत्तेजना देने से उन जमींदारियों के मालिकों को सांपत्तिक लाभ होता है और राजनैतिक दृष्टि से उनका प्रभाव बढ़कर उनके हाथ में राजकीय अधिकार अधिक रहते हैं, यह बात देश के लिये कुछ विशेष लाभदायक ही नहीं वरन् कुछ हानिकारक भी है, यह अब लोग समझने लगे हैं । कृषि पर यदि कदाचित कोई आपत्ति आ पड़े तो छोटे छोटे किसान एकाएक डगमगाते नहीं हैं, क्योंकि उनका व्यापार अधिक न होने के कारण वे स्वतः के परिश्रम से अपना बचाव किसी न किसी तरह कर लेते हैं । परंतु बड़े बड़े किसान या जमींदार परावलंबी होने के कारण, संकट पड़ने पर घबरा जाते हैं और उन्हें अपना बचाव करना कठिन हो जाता है । अतएव छोटी छोटी जमींदारियों की संख्या बढ़ाने की ओर सरकार का ध्यान

गया है। इस समय बड़ी बड़ी जमींदारियों का जो पल्ला भारी है उसी प्रकार दूसरी ओर का पल्ला भी भारी करना बहुत आवश्यक है। ऐसा करना सरकार को न्यायानुकूल जान पड़ता है, तौ भी, पुरानी और मर्यादा से अधिक बढ़ी हुई जमींदारियों को हानि न पहुँचाते हुए छोटी छोटी नई जमींदारियां कायम हो जाँय, यह महत्व का प्रश्न सरकार के सामने आ उपस्थित हुआ है। वर्तमान समय में मजदूरों को जो कठिनाई आ उपस्थित हुई है, उसे दूर करने के लिये छोटी छोटी जमींदारियों की जितनी संख्या बढ़ाई जा सके उतना ही अच्छा है, इस बात को अब बड़े बड़े जमींदार भी स्वीकार करने लगे हैं। परंतु इससे कोई यह अनुमान न कर ले कि जर्मनी में अबतक छोटी छोटी जमींदारियां थीं ही नहीं। थोड़ी सी जमीन पर ही अपना जीवन-निर्वाह करनेवाले बहुत से लोग जर्मनी में पहले ही से पाए जाते हैं। ऐसे किसानों की संख्या पश्चिम और मध्यभाग और इसी प्रकार बवेरिया और उत्तर समुद्र के समीपस्थ प्रांत में बहुत है। ये किसान अपने खेतों में अनाज न बोकर पशुओं के खाने योग्य सब प्रकार का चारा ही बहुतायत से तैयार करते हैं। यह काम वे अपने घर के बाल बच्चों और स्त्रियों की सहायता से करते हैं, मजदूरों को अपने काम पर नहीं लगाते। इस काम से उन्हें अधिक लाभ होता है इस कारण छोटे परिमाण पर खेती करने का काम बहुत बढ़ता जा रहा है, यह बात सरकारी कागज पत्रों को देखने से पाई जाती है।

जिन लोगों ने कृषि का मन लगा कर अध्ययन किया है उन लोगों का मत है कि छोटे प्रमाण पर खेती का जितना विस्तार जर्मनी में बढ़ता जायगा उतना ही कृषि का वहां उत्कर्ष होगा। यह उत्कर्ष किसी दूसरे उपाय से होना बड़ा कठिन है। प्रशिया के जिस विभाग में बड़े बड़े जमींदार हैं उस भाग में आपत्काल के समय किसानों की बड़ी दुर्दशा हो जाती है। परंतु छोटे छोटे किसान और उनमें भी खास करके वे जो अपनी थोड़ी सी जमीन में जानवरों के काम में आने योग्य चारा पैदा करते हैं—संकट के समय बहुत डगमगाते नहीं हैं, यह बात वहां सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। ह्राइनलैंड और वेस्टफालिया जैसे पश्चिमी प्रांतों में यह बात अच्छी तरह दिखाई पड़ती है। क्योंकि स्वत: की जमींदारी अथवा लगान पर खेत ले कर छोटे प्रमाण पर खेती करनेवाले जितने लोग इन प्रांतों में हैं उतने अन्यत्र नहीं हैं। ह्राइनलैंड प्रांत के कुछ भाग में तो यह हालत है कि कुल जमीन में से ३/४ जमीन किसानों से कबूलियत लिखा कर पट्टे पर दी गई है। इन खेतों को जमींदार लोग बड़ी प्रसन्नता से किसानों को देते हैं। बड़े बड़े शहरों के पास की जमीन तो वे लोग बड़ी खुशी से ले लेते हैं, क्योंकि शहरों में काम आनेवाली तरकारियां, फल, फूल आदि और साथ ही जानवरों के लिये चारा तैयार करके वे लोग बहुत अधिक लाभ उठा लेते हैं। वेस्टफालिया प्रांत के आस पास पूर्व की ओर बहुत बड़े बड़े जमींदार हैं, परंतु उनकी संख्या थोड़ी है। छोटे छोटे जमींदार ही वहां अधिक हैं। जमीन जोतने की चारों ओर सारी प्रचलित

पद्धतियां वहां दिखाई पड़ती हैं और सब प्रकार की फसलें भी वहां बोई जाती हैं। जर्मनी में व्यवसाय वाणिज्य की कितनी भी उन्नति हुई तो भी जमींदारों और किसानों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची। इससे यह अनुमान करने में कुछ हर्ज नहीं है, कि बड़े पैमाने पर और साथही छोटे पैमाने पर एकही जगह खेती करने से एक दूसरे को परस्पर कोई हानि नहीं पहुंच सकती, एक से दूसरे का नाश होने की कोई संभावना नहीं है।

पूर्वी प्रशिया के "पोलिश" प्रांत में जमीन का "सेटल्मेंट"—बंदोबस्त—करने के लिये बीस वर्ष पहले एक "लैंड कमीशन" बैठा था। उस कमीशन की रिपोर्ट में एक जगह लिखा है—"मजदूरों को एकत्रित करने का काम निश्चित रूप से न होने के कारण बड़ी बड़ी 'इस्टेटों' (जमींदारियों) को बहुत कुछ संकट भोगने पड़े हैं। आज कल इतमीनान के साथ छोटी और मध्यम दर्जे की अर्थात् २५ से ५० एकड तक के खेतों में खेती करना ही संभव है। खेती का काम करनेवाले मजदूरों का टोटा पड़ने से भी खेत के मालिकों को हानि नहीं उठानी पड़ती। उनकी जमीन से पैदा होने योग्य अनाज बहुत कर के जानवरों के खाने के काम में आता है। इस कारण अनाज का भाव कितना ही गिर जाय तो भी उन्हें उससे प्रत्यक्ष कोई विशेष हानि नहीं होती। जानवरों का पालन पोषण करनेवाले लोग गोबर का खाद और दूध, दही घी, आदि तैयार कर के अपनी हानि, यदि कुछ हो तो, पूरी कर लेते हैं। जानवरों की देख रेख का काम वे स्वतः

करते हैं। इसके लिये उन्हें कुछ विशेष खर्च भी नहीं करना पड़ता। बड़े जमींदारों को जानवरों से इतना लाभ उठाते नहीं बनता। क्योंकि उनके खेतों की दशा मर्यादित न होने के कारण वे अपने खेतों की निगरानी स्वयं: नहीं कर सकते। वे अपना काम नौकरों द्वारा कराते हैं, इस कारण उन्हें खर्च भी अधिक पड़ता है। बड़े बड़े जमींदारों ने अपने खेतों में जो सुधार किए हैं वे ही सुधार छोटे जमीदारों ने भी किए हैं। वे जैसे यंत्रों का व्यवहार करते हैं वैसे ही यंत्रों का छोटे छोटे जमींदार भी व्यवहार करने लगे हैं। जिस प्रकार वे अपने खेतों में खाद डालते हैं उसी प्रकार ये भी डालते हैं। सहकारी समितियों द्वारा छोटे छोटे जमीदारों को थोड़े व्याज पर कर्जा मिलने में भी कोई रुकावट नहीं होती। इसी प्रकार खेती की पैदावार व अन्य प्रकार का माल बेचने और खेती के उपयोगी सामान को खरीदने में उन्हें इन समितियों द्वारा बहुत सहायता पहुँचती है। इन सब कारणों से बड़े बड़े जमींदारों की अपेक्षा उन्हें अपनी जमीन के लिये अधिक दाम देना नहीं अखरता।

मर्यादित विस्तार के नए खेतों को निर्माण करने के लिये आज कल जो बड़े खेत हैं, उन्हीं की काट छांट करनी चाहिए। परंतु ऐसा करने में यदि कोई रुकावट है तो लोगों का हठ है। पूर्वी प्रशिया के बड़े बड़े जमींदार अपनी दारिद्र कहानी सदा कहा करते हैं। आवश्यकता से अधिक खेतों का विस्तार होने के कारण, वे अधिक परिश्रम करने में असमर्थ हैं और इसीसे वे हीनावस्था को पहुँच गए हैं परंतु अपनी जमीन के टुकड़े कर के किसानों को दे कर स्वतः

लाभ उठाना और दूसरों को लाभ उठाने देने की यदि चर्चा उनसे की जाय तो उनके प्राण ही निकल जाते हैं और मरते दम तक वे इस बात को स्वीकार नहीं करते। यदि बड़े बड़े खेतों के छोटे छोटे खेत बनाने की युक्ति किसी ने समझाई भी तो यथाशक्ति उस युक्ति का खंडन करने में वे अपनी सारी शक्ति लगा देने को तैयार हो जाते हैं। पहले भाग के अंतिम अध्याय में अग्रेरियन लीग का उल्लेख किया जा चुका है। सन १९०७ में इस लीग ने अपनी यह आकांक्षा प्रगट की थी—"सरकारी आज्ञा के बिना निज के तौर पर कोई अपनी इस्टेट (जमींदारी) के विभाग न करे" और यदि इसी वाक्य को इस प्रकार कहा जाय तो ठीक होगा कि एक के अधिकार की जमीन को दूसरे के अधिकार में देने की आवश्यकता आ पड़े तो बिना स्थानिक अथवा प्रांतिक अदालतों और "मिनिस्टर आफ एग्रीकलचर" की निगरानी में "स्टेट बोर्ड आफ कल्टिवेशन" की मंजूरी बिना, यह काम न हो सके। सरकार को हानि पहुँचे यह हमारी इच्छा नहीं, परंतु खेती के लाभ के लिये यदि सरकार लाखों रुपया खर्च करने को तैयार होगी तो उसके हाथ से राष्ट्र का बहुत बड़ा कार्य संपादन हो सकेगा।

वंशपरंपरा अथवा दान विक्रय के रूप की इस्टेटों को वहाँ "एनटेल" (Entail) कहते हैं। एनटेल के कठिन कानून द्वारा बड़ी इस्टेटों के मालिकों का संरक्षण पहले होता था। परंतु अब इस कानून का लाभ और भी बहुत से जमींदारों को मिलने लगा है। परंतु इतने से ही लीग के कथनानुसार विशेष व्यवस्था करने का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं

पड़ता। प्रशिया में एनटेल नाम की रियासतें बहुत हैं। पच्चीस हजार एकड से ले कर दस लाख एकड तक जमीन रखनेवाले प्रचंड जमींदार उस प्रांत में पाए जाते हैं और उन सबों को इस कानून से लाभ पहुँचता है। बहुत से लोगों का यह मत है कि छोटी छोटी जमींदारियों के लिये भी यह कानून काम में लाया जाना चाहिए क्योंकि जिससे एक को लाभ होता है उसीसे दूसरे को लाभ प्राप्त होने लगेगा। बवेरिया में एक बार इस कानून का प्रयोग किया गया था परंतु उससे वहाँ कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

सन् १८९० व १८९१ में कुछ कानून प्राशिया में पास किए गए और उनके आधार पर छोटे छोटे नए खेतों को बनाया जा कर किसानों को देने का कार्य आरंभ किया गया। इन कानूनों के अनुसार बड़ी बड़ी जमींदारियां सरकार पहले तो खरीद लेती है पश्चात् छोटे छोटे खेतों को बना कर उन्हें पुनः किसानों को दे देती है। इन खेतों के बदले में किसानों को रुपया देना पड़ता है। इस लगान का कुछ भाग बतौर मालगुजारी के देना पड़ता है जो कभी माफ नहीं होती और कुछ भाग जमीन की कीमत के बदले में लिया जाता है। जमीन की कीमत किश्तों द्वारा साढे छप्पन वर्ष में वसूल की जाती है। इस व्यवस्था से किसान लोग सदा सरकार की दृष्टि के सामने रहते हैं, और जमीन से उनका बहुत दिनों तक संबंध बना रहता है। सरकार से जो जमीन ली जाती है, उसे न तो उसका मालिक बेंच सकता है और न रेहन रख सकता है। यह सब देखने का काम सरकार

ने "जनरल कमीशन" और "रेट बैंक्स" के स्वाधीन कर दिया है। खेतों के पास यदि मकान बनाना हो तो किसानों को बैंक से रुपया कर्ज दिला दिया जाता है और इस प्रकार सरकार और किसानों के बीच साहूकारी का संबंध हो जाता है। इस संबंध से किसान लोग बहुत सुखी रहते हैं। निजी साहूकार के पास जमीन रेहन रखने से उतनी सहूलियतें रेहन रखनेवाले को नहीं मिलतीं जितनी सरकार से मिलती हैं।

सन् १९०५ के अंत तक प्रशियन राज्य में ११ प्रांतिक सरकारों ने कुल १,३१५ जमींदारियां खरीदीं। इन जमींदारियों में कुल ६,७२,६८२ एकड़ जमीन थी। सवा छ एकड से लेकर साढे बासठ एकड तक के टुकड़े करके भिन्न भिन्न किसानों को बांट दिए गए। इन खेतों को खरीद करने वाले किसान उन्हें न बेच सकें, इस बात का उचित प्रबंध सरकार ने कर दिया है। इस कारण जमीन रेहन रख कर मन माना कर्ज लेने का मार्ग सरकार ने रोक दिया है। इस नियम के कारण मालिकों के मरने के पश्चात् यदि उनकी विधवा अथवा नाते रिश्ते के लोग ज़मीन का कुछ भाग बेचना चाहें अथवा और किसी प्रकार से किसी को देना चाहें तो उन्हें इस काम के लिये जनरल कमीशन की आज्ञा लेनी पड़ती है।

कृषि के अभिमानी लोगों को सरकार ने बहुत सहायता पहुँचाई परंतु इस पद्धति से मजदूरों को खेत ले देने की ओर जितना ध्यान सरकार का जाना चाहिए था नहीं गया। प्रशियन सरकार ने इस ओर अवश्य ध्यान दिया है और वर्तमान कृषि विभाग के मंत्री भी इसके अनुकूल हैं। जनवरी

सन् १९०७ में कृषि विभाग के मंत्री ने एक आज्ञा प्रकाशित की थी, जिसमें लिखा था कि "जिन शर्तों पर किसानों को जमीन दी जा रही है उन्हीं शर्तों पर खेती का काम करने-वाले अथवा कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को भी जमीन दिए जाने की व्यवस्था की गई है।" इस आज्ञानुसार बहुत से मजदूरों को सरकार ने अपने धन से जमीन खरीद दी है। जमीन की कीमत का बोझा जमीन पर डाल कर सरकार ने बारह से पंद्रह वर्ष में उसे वसूल कर लेने का निश्चय कर लिया है। पश्चात् मालगुजारी के तौर पर सरकार हर साल रुपया वसूल करती रहती है। मालगुजारी का रुपया वक्त पर अदा करने के लिये सरकार मजदूरों से जमा-नत भी लेती है। इस प्रकार मजदूर लोग जमीन के बंधन में फँस कर फिर इधर उधर भाग जाने का साहस नहीं करते। यह जमीन इनको बहुत थोड़ी दी जाती है। सब से छोटा खेत का टुकड़ा एक तिहाई एकड़ तक का होता है। इतना छोटा खेत रखने का कारण यह है कि वे अपने खेत में ही मेहनत करके अपने बाल बच्चों के पालन पोषण योग्य अनाज पैदा कर लें और उन्हें दूसरे किसानों के पास मजदूरी के लिये न जाना पड़े। परंतु जिस कठिनाई को दूर करने के लिये यह योजना की गई है वह कठिनाई ज्यों की त्यों बनी ही रहेगी। क्योंकि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को जमीन देने पर जो मुख्य बात देखने की है वह यह है कि कारखानों से उन्हें साल भर बराबर काम मिलता रहेगा अथवा नहीं। यदि ऐसा हुआ तो वे एक जगह काम में लगे रह कर हल फावड़े में स्वतः अपने को अथवा अपने

बाल बच्चों को लगाकर खेती का काम करते रहेंगे अथवा नहीं।

ऊपर जिस व्यवस्था का उल्लेख किया गया है उसे आरंभ में सरकार को ही करना पड़ा। अब सरकार ने उसमें से अपना हाथ निकाल लेना आरंभ कर दिया है। लैंड बैंक, कोआपरेटिव सोसाइटी और यूनियनों के सपुर्द अब यह काम किया गया है और कानून के अनुसार, इस काम संबंधी सारे अधिकार सरकार ने इन संस्थाओं के सपुर्द कर दिए हैं। किसी कठिनाई के उपस्थित होने पर सरकार धन द्वारा भी इन संस्थाओं को इस कार्य के लिये सहायता पहुंचाती है।

सरकार से प्राप्त हुई ज़मीन पर घर बार बनाने की भी व्यवस्था सरकार ने कर दी है। इस काम में केवल शर्त इतनी ही है कि ८५ से ९० फी सदी जमीन खेती के काम के लिये खाली रखनी चाहिए। बाकी जमीन पर एकमंजिला चाहे दुमंजिला रहने के लिये घर अथवा खेती के काम में आने योग्य इमारत बना लेने में कुछ हर्ज नहीं है।

इस योजना के विरुद्ध खेती का काम करनेवाले मजदूरों को यह उज्र है कि इतना छोटा खेत देने से बहुत हुआ तो हमें तरकारी भाजी अथवा भेंड का दूध खाने को मिलेगा अतएव खेती में परिश्रम करने से हमें लाभ क्या? सरकार ने एक तिहाई एकड के छोटे छोटे टुकड़े देकर हमारे ऊपर जो उपकार किया है, केवल उसी पर हमारा जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। हमें तो मजबूरन उदर-निर्वाहार्थ दूसरों के खेत पर मजदूरी करने के लिये जाना ही पड़ेगा। इसके सिवा हमारे पास पेट भरने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

चौदहवाँ अध्याय।

कृषिकार्य और मजदूरों का प्रश्न।

सन् १९०० ईस्वी की मनुष्यगणना के अनुसार जर्मन साम्राज्य में कुल ५,६३,६७,१७८ मनुष्य थे, जिनमें से ८,२३,५९७ लोग विदेशी थे, अर्थात् १·४ फी सदी विदेशी लोग काम करते थे, परंतु सन् १८९० की मनुष्यगणना के अनुसार ४,९४,२८,००० मनुष्य थे, जिनमें ४,३३,२५४ विदेशी थे, अर्थात् ०·८७ फी सदी विदेशी लोग काम करते थे। कृषिप्रधान प्रांतों में गर्मियों के दिनों में खेती का काम करने के लिये तीन लाख मजदूर विदेश से आ जाते हैं। ये लोग एक जगह न रह कर काम की खोज में इधर उधर घूमा करते हैं। अकेले प्रशिया में सन् १९०५ के दिसंबर मास में ५,२४,८७४ विदेशी मनुष्य आकर रहे थे। प्रशिया की जन-संख्या ३,६७,६७,२०२ है अतएव प्रति सैकड़ा विदेशियों की संख्या १·४ पाई जाती है। इन लोगों में करीब करीब तीन लाख मनुष्य आस्ट्रिया, हंगरी और रूस से आकर आबाद हुए थे, जिनमें ८० फी सदी पुरुष थे। प्रशिया में सन १९०५ में २०, ५, ८१८ मनुष्य विदेशी थे और सन् १८८५ में यह संख्या १, ५६, ९७० थी। इस से यह बात पाई जाती है कि सन् १८८५ से १९०५ तक बीस वर्ष में प्रति दस हजार मनुष्यों में ५·५ से लेकर १४·१ तक प्रशिया में विदेशी लोगों की आबादी बढ़ी।

कल कुछ वर्षों से देशी तथा और प्रकार के मजदूरों का प्रायः अकाल सा पड़ गया है। इस कारण कुल देश में और खास कर प्रशिया में खेती के काम में कितनी कठिनाइयां आकर उपस्थित हो गई हैं यह बात ऊपर जो अंक दिए हैं, उन पर विचार करने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। मजदूरों की कमी का प्रश्न, वर्त्तमान समय में, जिस किसी के मुंह से सुनाई पड़ता है। प्रशियन पार्लिया-मेंट में भी इस विषय पर बात चीत प्रायः होती ही रहती है। आज कल दस पंद्रह वर्ष से कृषिप्रधान प्रांतों से मजदूरों के बाहर जाने का जो विलक्षण स्रोत बह रहा है, इसका कारण क्या है, यदि इसकी विवेचना की जाय तो प्रशिया की कृषि की अंतःस्थिति का स्वरूप सामने आ जायगा। थोड़ा सा विचार करने पर यथार्थ दशा का पता चल जायगा और उसे जान कर कृषि कार्य में सुधार चाहनेवालों के मन में निराशा का भाव उत्पन्न होगा।

पुरातन काल से आज तक जिन लोगों के भरोसे खेती का काम होता आया है, वे लोग अपना देश छोड़ कर बराबर अन्यत्र जा रहे हैं। पोलिश प्रांत और प्रशिया के पीछे, उत्तर की ओर के निवासी, दूसरे शहरों में जाकर अपने लिये जीविका ढूँढते हैं। इस कारण बड़े बड़े जमींदारों और छोटे छोटे जमीदारों, दोनों को, बराबर कठिनाई का सामना करना पड़ता है। पोलिश प्रांत से बार्लिन ह्राइन प्रांत और वेस्टफालिया से हजारों लोग बाहर चले गए इसका पता सरकारी कागज पत्रों से पाया जाता है। जो

लोग विदेश जाते हैं उनमें बहुत से लोग खेती का ही व्यवसाय करनेवाले होते हैं। वे लोग खेती की ओर आँख उठा कर भी देखना नहीं चाहते। उनकी रुचि अब उद्योग धंधों की ओर है। कुछ थोड़े लोग निज के तौर पर नौकरी भी कर लेते हैं परंतु अधिक संख्या उन्हीं लोगों की है जो व्यवसाय वाणिज्य संबंधी कामों में ही अपने को लगा कर अपने लिये जीविका पैदा करते हैं।

आरंभिक शिक्षा की पाठशालाओं के शिक्षकों की सहायता से पूर्वी प्रशिया के संबंध में सरकार ने जो कारवाई की है उस से स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा है कि करीब करीब २४०० कुटुम्ब सन १५०५–०६ में इस प्रांत को छोड़ कर बाहर चले गए। इनमें से कुछ तो जर्मन देश छोड़ कर अन्य देशों में चले गए और बाकी सब जर्मनी के पश्चिमी भाग में जा कर रहने लगे। विदेश जाने की यह उत्कंठा जैसी युवा पुरुषों में दिखाई पड़ती है वैसी ही बालिकाओं में भी देखी जाती है। ये कन्याएँ कारखानों में मजदूरी का काम करती हैं या किसी के यहां जाकर नौकरी करती हैं। बहुत सी तो सीने पिरोने, अथवा झाड़ू बुहारी लगाने या कपड़ा धोने का काम करती हैं। और कोई कोई तो दूकानों पर सौदा बेचने की नौकरी भी स्वीकार कर लेती हैं। इन प्रांतों से समुद्र पार विदेश जानेवाले लोगों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। औद्योगिक प्रांतों में जाने की अपेक्षा यह संख्या बहुत अधिक है।

गाँवों और किसानों की आबादी दिनों दिन क्यों कम

होती जाती है, इस विषय में भिन्न भिन्न विचार के लोग भिन्न भिन्न कारण उपस्थित करते हैं। जमींदार और उनके कुछ अनुयायी लोग यह कहते हैं कि आजकल मजदूर लोग बहुत अधिक हो गए हैं और इस कारण इनका दिमाग बिल्कुल बिगड़ गया है। इस विषय पर ध्यानपूर्वक विचार करनेवाले लोग, यह कहते हैं कि जिस प्रकार जमींदारों को कुछ कठिनाइयां आती हैं उसी प्रकार मजदूरों को भी कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; जिसके कारण वे खेती का काम छोड़ कर जहां चाहें चले जाते हैं। सालीशिया में जमींदारों की एक कांग्रेस हुई थी, उस कांग्रेस में एक जमींदार ने कहा था—"आज कल बालकों को खूब शिक्षा मिलने लगी है और उसका परिणाम यह हो रहा है कि हमें मजदूर नहीं मिलते।" जमींदारों के इस प्रकार के उद्गार वर्तमान स्थिति का पूरा पूरा ज्ञान करा देते हैं। संभव है, बहुत से लोगों के ध्यान में यह बात आती हो परंतु यथार्थ दशा यह नहीं है और न हम यह कहते हैं कि उनके इस कथन में भी कुछ सचाई नहीं है। हम तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि मजदूरों को चाहे जितना दूषण दिया जाय तो भी खेती का काम करनेवालों को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता है वह क्यों उपस्थित हुई है, इस प्रश्न का निर्णय नहीं होता।

इस संबंध में सब से अधिक महत्व की बात खेती के काम में नए यंत्रों का उपयोग है। पहले साल भर तक बराबर जो मजदूर खेतों पर काम करते रहते थे, उनको सालभर तक बराबर काम नहीं मिलता है, आवश्यकता पड़ने पर मजदूरों

को काम के लिये हताश होना पड़ता है और इस कारण बहुत से मजदूर खेती का काम छोड़ कर उद्योग धंधों में जा लगे हैं और जो थोड़े बहुत रह गए हैं, उन्हीं पर खेती का काम निर्भर है। परंतु इससे न तो मजदूरों का काम चलता है और न जमींदार ही लाभ उठाते हैं। वे अपना जीवन निर्वाह करने के लिये कभी इस खेत पर कभी उस खेत पर मारे मारे फिरने लगते हैं; स्थिर आजीविका के अभाव से वे भी धीरे धीरे शहरों की ओर जीविका के लिये दौड़े चले जाते हैं। खेती के काम में यांत्रिक-शक्ति का अधिक उपयोग होने से, मजदूर लोग गांवों में न रह कर कल कारखानों में जा कर काम करने लगते हैं। ज़मीन का विस्तार अधिक होने के कारण यंत्रों की सहायता से खेती का काम करना अधिक लाभदायक है, परंतु मजदूरों के विदेश चले जाने के कारण ठीक समय पर यदि किसी को हानि पहुँचती है तो बड़े बड़े जमींदारों को।

पूर्वी-एशिया के जमींदारों की स्थिति का वर्णन हर एवट नाम के एक सज्जन ने इस प्रकार किया है—"पश्चिमी भाग की आबोहवा की बनिस्बत पूर्वी भाग की आबोहवा खेती के काम के लिये कम अनुकूल होने के कारण वहां खेती का काम जल्द खतम हो जाता है। पश्चिमी भाग में यह काम बराबर साल भर होता रहता है तौ भी कुछ कठिनाई नहीं पड़ती। गर्मियों में थोड़े समय में ही खेती की फसल तैयार हो जाती है। इस कारण जाड़ों की अपेक्षा गर्मियों के दिनों में जमींदारों को मजदूर, घोड़े और अन्य जानवरों

की अधिक जरूरत पड़ती है। बोझा ढोनेवाले घोड़ों की यद्यपि उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती तौभी फसल मींजने, गाहने के काम में, यथाशक्ति किफायत के साथ साल भर बराबर वे उसे काम में ले आते हैं; परंतु मजदूरों के विषय में क्या किफायत की जा सकती है ? कृषि हो अथवा कल कारखाना, यदि काम हो तो किफायत के साथ किया जा सकता है परंतु बिना काम के साल भर तक मजदूरों को अपने पास रखना कैसे किफायत कहला सकता है ? अनाज निकालने—मींजने और गाहने—के लिये जब तक भाप के यंत्र निर्माण नहीं हुए थे तब तक जाड़ों भर खलिहानों में और घरों में, काम आने योग्य, कपड़े बुनने के लिये मजदूरों को काफी काम मिल जाता था। परंतु जब से यंत्रों की सहायता से यह काम होने लगा तब से हाथ द्वारा काम करनेवालों की बहुत दुर्दशा हो गई। अपने पास के मजदूरों को भरपूर काम देने के लिये जमींदार लोग मींजने गाहने की कलों का उपयोग न करें, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? जाड़े के दिनों में जितने मजदूर चाहिएँ उतने वर्षारंभ होने पर रख लिए जायँ और जब काम आपड़े तब उनसे काम लिया जाय, भला इस प्रकार काम लेने से कहीं किफायत के साथ काम हो सकता है ! इसपर से यह कहा जा सकता है कि शहरों में रहकर आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से नहीं, केवल खेती की दशा बदल जाने के कारण—उचित समय तक काम न मिलने से—पूर्वी भाग के लोग अपना घर बार छोड़ कर अन्य स्थानों में जाकर बस गए

हैं। कलों का अधिक उपयोग होने से खेतों की बड़ी फसल को काटने के काम में पहले की बनिस्बत अब जमीन आसमान का अंतर पड़ गया है। जाड़े के दिनों की खराब आबोहवा में जंगलों में काम करने, रास्तों को ठीक करने, अथवा जमीन संबंधी सुधार के अन्य कामों को मजदूर लोग हाथों से कर नहीं पाते। अतएव ऐसी स्थिति में स्थायी रूप से मजदूरों को भविष्यत् के काम के लिये नौकर रखना, कितना कठिन काम है। और इसी कारण वे लोग स्थायी मजदूरों को रखने के काम में हाथ नहीं डालते। ऐसी दशा प्राप्त हो जाने के कारण, यदि मजदूर लोग खेती के काम से विरक्त हो शहरों में जाकर अपने लिये जीविका तलाश करें तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। काम पड़ने पर फसल के दिनों में मजदूरों से काम लेने की परंपरागत चाल टूटने से समाज की व्यवस्था बिगड़ती है, यह बात किसान लोग जानते हैं; परंतु खर्च के काम में किफायत का व्यवहार करने से स्थायी मजदूरों को अलग करना क्या कुछ अनुचित कहा जा सकता है ?"

परंतु इतने से ही इस विषय का पूरा पूरा विचार हो गया, ऐसा नहीं है। जिस प्रकार खेती करने की नवीन पद्धति निकल आने से, पहले के समान बड़ी बड़ी जमींदारियों में मजदूरों को यथार्थ काम नहीं मिलता, उसी प्रकार समय पड़ने पर काम करनेवाले मजदूरों को जमीन का आश्रय रखकर रहने में आसानी नहीं मालूम होती, इसका उपरोक्त विवेचन से पूरा पूरा पता चल जाता है। परंतु साल भर बराबर

बारह महीनों तक मजदूरों की कमी क्यों पड़ती है इस बात का अबतक निर्णय नहीं हुआ। समय पड़ने पर मजदूरों की कमी पूरी करने के लिये रूस, आस्ट्रिया और गलेशिया से मजदूरों को लाकर यह कमी पूरी की जा सकती है अतएव इस प्रश्न का यह भाग इतने महत्व का नहीं है। हमने जो बात ऊपर प्रकट की है अथवा उपरोक्त अवतरण में जिस प्रश्न का समावेश नहीं हुआ उसी प्रश्न का विचार करना बड़े महत्व का है। और उस अवतरण में जो स्थिति बताई गई है उस स्थिति के प्राप्त होने का कारण जानने की मीमांसा करना ही यहां पर जरूरी है। यदि इन कारणों को एक शब्द में कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि उत्तरी और पूर्वी भाग के समाज ने मजदूरों को अब जहां ले जाकर डाल दिया है वहां उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होना असंभव है। थोड़ा वेतन, टूटे फूटे रहने के झोपड़े, समाज का उनपर बहिष्कार, मालिकों का कड़ा शासन, शहरों के मजदूरों को मिले हुए नागरिकों के अधिकार का उनके लिये अभाव, इत्यादि बातों का परिचय होने से वे यह समझने लगे हैं कि मनुष्य और नागरिक इन दोनों बातों में हम बहुत नीच दशा को प्राप्त हो गए हैं। अतएव हजारों लोग अपना घर बार छोड़ कर पूर्व से पश्चिम की ओर उद्योग धंधों में आगे बढ़े हुए शहरों का आश्रय ग्रहण करते हैं। वेस्टफालिया की कोयले की खानों में जाकर काम करने के लिये हजारों पोलस लोग अपनी जन्मभूमि को सदा के लिये त्याग कर चले जा रहे हैं। डार्टमंट की खानों में पोलस और पूर्वी प्रशिया के लोग बहुतायत के साथ जाते

हैं। इाइनलैंड की भी यही स्थिति है। "मजदूरों की कठिनाइयों का बीज मजदूरों में ही है" यह वाक्य वहां के लोगों के मुख से जहां तहां सुनाई पड़ता है और इस वाक्य में बहुत कुछ सत्यता है। एल्ब नदी के पूर्वी ओर की बड़ी बड़ी जमींदारियों में, मजदूरी का काम करते करते मजदूरों की वर्तमान दशा शोचनीय होगई है और उन्हें अपना जीवन भारवत् मालूम होने लगा है। मजदूर शब्द उच्चारण करते ही प्रतिष्ठा, स्वाभिमान, स्वतः के सुधार होने की आशा, सब नष्ट हो जाती है। यह दीन दशा वहां के खेती करनेवाले लोगों की हो गई है और उन लोगों की स्थिति को जर्मन समाज आंखें उठा कर भी नहीं देखता।

कृषि प्रदेशों के निवासी मजदूर लोगों के घर बहुत ही बुरे होते हैं। इस विषय में अधिक प्रमाण तलाश करने की आवश्यकता नहीं है। एक प्रसिद्ध जमींदार ने सरकार को इस बात की सूचना दी थी कि "खेती का काम करनेवाले मजदूरों को अपना घर छोड़ कर शहरों में जाने से उन्हें शहरों में अच्छा घर रहने को मिलेगा, यदि वे यह विश्वास न करा सकें तो उन्हें अपना घरबार छोड़कर जाने की रोक होनी चाहिए।" उस जमींदार की यह सूचना उचित है अथवा अनुचित, इस पर विचार न करने पर भी यह बात तो मान लेना ही पड़ती है कि गाँवों के घरों की अपेक्षा शहरों के मकान अच्छे होते हैं। परंतु यथार्थ बात यह भी नहीं है। बड़े बड़े शहरों में आरोग्यता के विचार से मजदूरों के रहने के मकान बहुत कुछ सुखदाई होते हैं परंतु उन्हें उन मकानों

में किराया भी अधिक देना पड़ता है। प्रशिया में सार्वजनिक स्वास्थ्यरक्षा विभाग की ओर से जो सरकारी सूचना प्रकाशित होती है उससे जाना जाता है कि आवश्यकतानुसार मजदूरों के रहने की जगह काफी नहीं होती। दीवालें टूटी फूटी, कोठरियों में अँधेरा, पानी का उचित प्रबंध नहीं, पाखाने और मोरियों के पानी का ठीक ठीक निकास नहीं, रहने के पास ही मकानों में जानवरों का बाँधा जाना, इत्यादि कष्ट उन्हें भोगने पड़ते हैं। मजदूरों को अपनी मजदूरी के ही हिसाब से सुखदाई अथवा दुःखदाई मकान किराये पर लेना पड़ता है। हां, यह बात जरूर है कि अब कुछ दिनों से मजदूरी की दर कुछ बढ़ गई है परंतु साथ ही रहन सहन का खर्च भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। अतएव जो मज-दूरी उन्हें अब मिलने लगी है, वह उनके पेट पालनार्थ ही पूरी नहीं होती है। अन्य बातों के सुधारने के लिये फिर भला वे कहाँ से धन ला कर लगावें?

गाँवों को छोड़ कर जो मजदूर शहरों में जाते हैं, वे केवल दरिद्रता के वश जाते हैं, इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। जिस प्रांत में आमदनी के कर की आय अधिक है, वह प्रांत धनवान है और जिस प्रांत में आमदनी के कर की आय कम है वही प्रांत निर्धन है, यह तत्व स्वीकार कर लेने में भी किसी प्रकार का हर्ज नहीं है। यदि इस तत्व को आगे रख कर प्रस्तुत विषय पर विचार किया जाय, तो यह बात ध्यान में आ जायगी कि जिस प्रांत में आमदनी पर कर का भार अधिक है उस प्रांत में दूसरे प्रांतों के लोगों को

आकर्षित कर लेने की शक्ति अधिक है। और जिस प्रांत में यह आमदनी कम है उस प्रांत को अपने प्रांतवासियों को अपने पास रखने की शक्ति भी कम है। यह सिद्धांत सरकारी कागज पत्रों से भी सच्चा प्रतीत होता है।

प्रशिया का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग की अपेक्षा आमदनी के हिसाब से बहुत आगे होने से वहां जितनी अच्छी मजदूरी मिलती है उतनी पूर्वी अथवा उत्तरी भाग में कहीं भी नहीं मिल सकती। उत्तरी भाग का उपरोक्त वाक्य में समावेश करने का कारण यह है कि इस विषय में दोनों प्रांतों की स्थिति समान है; केवल वहाँ के मजदूरों की जाति मात्र भिन्न है। पूर्वी भाग के मजदूर पोल्स लोग हैं और उत्तरी भाग के लोग "जर्मन" वंश के हैं। ये लोग बहुत सहनशील, बुद्धिमान और संकट के समय धैर्य धारण करके रहनेवाले हैं।

कृषि का काम करनेवाले मजदूरों को मजदूरी अथवा मजदूरी के बजाय माल देने का रिवाज प्रशिया में था। परंतु अब यह चाल प्रायः बंद सी हो गई है। यह माल अमुक प्रकार का होना चाहिए, यह कुछ नियम न था। अनाज, आलू, अन्य प्रकार की तरकारियाँ, दूध, जानवरों के लिए चारा, इत्यादि में से जिसको जैसा सुभीता होता था, वैसा देता था। इन सब बातों को ध्यान में रख कर यदि अनुमान लगाया जाय तो साल में पचीस से लेकर चालीस पौंड नकद अथवा माल मिलता था; परंतु अब तो उन्हें केवल नक़द मजदूरी ही मिलने लगी है। उद्योग धंधों में लगे हुए मजदूरों का सुधरा हुआ जीवनक्रम होने से जो लाभ उन्हें उद्योग

धंधों में होता है यदि उसी प्रकार का लाभ कायदे कानून के अनुसार खेती के मजदूरों को प्राप्त होता, फिर चाहे उन्हें मजदूरी कुछ काम ही मिलती, तो भी वे घर के घर ही में रह कर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करते। परंतु जर्मनी के कानून कायदे उन्हें और कमजोर किए देते हैं। अपनी सांपत्तिक स्थिति सुधारने के लिये संघशक्ति का अवलंबन कर के यदि वे अपनी स्थिति सुधारना चाहें तो कानून कायदे की कठिनाई के कारण वे यह कार्य कर नहीं सकते। प्राशिया में इसके लिये कानून का क्या स्वरूप है, यह जान लेने पर सारी जर्मनी में प्रचलित कानून की कल्पना सहज में ही हो जायगी। इसी लिये, यहाँ पर उस प्रांत का, उस विषय का, थोड़ा सा विवरण देना बहुत आवश्यक है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक प्राशिया में मालिक लोग अपने निजी नौकरों को गुलाम के समान समझते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में किंग फ्रेडरिक विलियम तीसरे ने सब प्रकार की गुलामी बंद करने के लिये एक फर्मान—शाही आज्ञापत्र—जारी किया। परंतु इस आज्ञापत्र से भी प्रजा को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त होकर गुलामी का अंत नहीं हुआ। इस फर्मान को देख कर बड़े बड़े जमींदारों के देवता कूच कर गए। अपने पास के लोगों को स्वतंत्र हुआ देख, उन्हें भय उत्पन्न हुआ और उन्होंने यह समझा कि अब ये लोग हमारा मनमाना काम नहीं करेंगे और हमारा इन पर उतना दबाव न रह सकेगा जितना अब तक है। अतएव उन्होंने बादशाह से विनय की कि " आपने देश से सब प्रकार की गुलामी की

प्रथा उठा दी इसके लिये हमें कोई आपत्ति नहीं है परंतु अपने नौकर चाकरों पर जो अधिकार हमें था उसे ज्यों का त्यों बना रहने दिया जाय।" उनकी इस विनय को बादशाह ने स्वीकार कर लिया और यह आज्ञा दी कि "गुलामी की प्रथा हमने बंद की तौभी मालिक लोगों का अपने नौकर चाकरों पर अब तक जो अधिकार चला आता है अथवा अब तक जैसा उनका संबंध बना हुआ है वह वैसा ही बना रहेगा।" इस दूसरे आज्ञापत्र में कुछ ऐसे शब्द थे कि उसी आधार पर निजी नौकरों के समान ही खेती का काम करनेवाले मजदूरों पर भी उनके मालिक अनियंत्रित सत्ता चलाने लगे। इस दूसरे आज्ञापत्र का प्रचार सन् १८१० से अबतक पूर्वी प्रांतों और उत्तरी व पश्चिमी भागों के कुछ प्रांतों में पाया जाता है। इस आज्ञापत्र का नाम "सन १८१० का प्राशियन सर्वेंट्स-आरडिनेंस" है। इस आरडिनेंस का उपयोग निजी नौकरों और स्थायी रूप से इकरारनामा लिख कर काम करनेवालों अथवा किसी प्रकार से उनके घर या जमीन का आश्रय लेकर रहनेवाले मजदूरों पर किया जा सकता है, और इस प्रकार के लोग अपने मालिकों की सब प्रकार की आज्ञा मानने के लिये बाध्य हैं। ऐसी स्थिति होने से इन लोगों को अपना जीवन गुलामी में व्यतीत करना पड़ता है। "गुलामी" शब्द का प्रयोग केवल उठाया गया है परंतु व्यवहार में वह वैसी ही बनी है! मालिकों के साथ जो इकरारनामा लिखा जाता है यदि उस इकरारनामा को रद्द करने के लिये किसी के मन में आई तो कानून ऐसा जटिल

है कि यह कार्य होना एक प्रकार से असंभव ही समझना चाहिए। कारखाने के मजदूर लोग ट्रेड ऐसोसिएशन के समान संस्थाएँ कायम करके अपने मालिकों के विरुद्ध हड़ताल वगैरह कर सकते हैं; उन्हें इसके लिये कायदे से कोई रोक टोक नहीं है। परंतु खेती का काम करनेवाले मजदूरों की दशा इससे बिलकुल भिन्न है। सन् १८५४ में एक कानून बनाकर यह बात तय कर दी गई है कि यदि कभी खेती का काम करनेवाले मजदूर लोग हड़ताल करें, तो वे दोषी समझे जाकर उन्हें दंड दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि इन लोगों और गुलामों में कोई अंतर नहीं है। केवल "गुलाम" शब्द का उच्चारण करना मना है

प्रशिया के समान ही जर्मनी के अन्य प्रांतों में भी "सरवेंटस आरडिनेंस" काम में लाया जाता है। अतएव निजी नौकरों और खेती का काम करनेवाले मजदूरों को समान कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि इस विषय में कहीं कुछ सुधार हुआ है तो सेक्सन प्रांत में। "प्रशियन सर्वेंटस आरडिनेंस" को और भी दृढ़ बनाने के लिये सन १८५४ के कानून का कितना सहारा मिल गया है, इस बात का इस कानून की एक धारा से जो नीचे दी जाती है पता लग सकता है—"जो कोई नौकर अपने मालिक की आज्ञा हठपूर्वक पालन नहीं करेगा अथवा किसी कानूनी कारण के बताए बिना नौकरी छोड़ देगा तो मालिक की ओर से निवेदन किए जाने पर अपराधी को पंद्रह शिलिंग जुर्माना अथवा तीन दिन तक की क़ैद की सजा दी जायगी।"

यह नियम केवल खेती का काम करनेवाले मजदूरों और निजी नौकरों के लिये उपयोग में लाया जाता है।

जर्मनी में अपराधियों को दंड देने का कानून जिस उद्देश्य को आगे रख कर बनाया गया है उस उद्देश्य से बिलकुल विरुद्ध यह ऊपर दी हुई धारा है। शर्तबंदी के अनुसार यदि कोई काम करने से इनकार करे तो और किसी नागरिक को दंड नहीं दिया जाता केवल हानि को पूरा कर देने की जिम्मेदारी कानून के अनुसार होती है। कभी कभी हड़ताल होने पर कारखानों के मजदूर मालिकों को बिना सूचना दिए ही काम छोड़ कर चले जाते हैं। ऐसा मौका आने पर मालिकों की ओर से अदालत की मार्फत हड़ताल करनेवालों से हानि को पूरा करने के लिये हर्जाना माँगा जाता है। कारखानों के मालिकों का मन समझाने के लिये कानून में यह गुंजाइश रक्खी गई है परंतु वास्तव में उन्हें इससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। क्योंकि अदालत में पैर रखते ही धन और समय दोनों का अपव्यय होता है। इतना ही नहीं, अदालत से क्या निर्णय होगा इसका भी कुछ निश्चय नहीं। इसी कारण कारखानों के मालिक अदालत तक जाने की झंझट में बहुधा पड़ते ही नहीं। परंतु निजी नौकरों और खेती का काम करनेवाले मजदूरों की दशा इस से बिलकुल भिन्न है। उनके लिये जो कानून बनाया गया है, वह बड़ा कड़ा है और उसका उपयोग भी मनमाना होता है। शर्तों के टूटने से यही कहा जा सकता है कि दोनों पक्षों में से एक ने शर्तों को तोड़ा। इस नियम के अनुसार जिस

प्रकार मजदूर शर्तों को तोड़ सकते हैं, उसी प्रकार मालिक भी शर्तों को तोड़ सकते हैं। परंतु इस बात की जाँच हो कर मालिकों को कभी दंड नहीं मिलता। दंड भुगतना पड़ता है केवल मजदूरों और नौकरों को। नौकरों को यदि नौकरी छोड़नी हो तो उन्हें अपने मालिकों को पहले से सूचना देनी चाहिए, इतना कठिन कानून है। परंतु यदि मालिक आधी रात को नौकर से कहे कि हमने तुमको नौकरी से अलग किया तो उसके लिये कायदे कानून में कुछ भी उल्लेख नहीं। यदि कोई नौकर बिना सूचना दिए नौकरी छोड़ कर चला गया तो कानून के अनुसार फिर उसे जबरदस्ती पकड़ कर काम पर लाया जाता है परंतु यदि किसी मालिक ने किसी नौकर को निकाल दिया तो फिर इसकी कहीं पूछ नहीं कि वह किस अपराध के कारण अलग किया गया। नौकरी छोड़ जाने के अनेक कारण बताने पर भी अदालत नौकर को निर्दोष समझ कर नहीं छोड़ती और मालिक के बिना कारण बताए ही नौकर अलग कर दिए जाते हैं, यह कितना अन्याय है! अदालतों में जूरी पद्धति का प्रचार होने से सारी स्थानिक अदालतों में जमींदारों का पक्ष ही प्रबल रहता है।

खेती का काम करनेवाले मजदूरों के लिये एक अनिष्ट-कारी बात और है। आजकल पचास साठ वर्षों से कानून कायदों में जो सुधार हुआ है, उस सुधार से मजदूर बिल्कुल अलग समझे गए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में गुलामी की प्रथा बंद की गई। उसी समय से

जमींदारों के कुलियों की दशा बहुत सुधर गई। इससे पहले जमींदार लोग, इन लोगों पर नाना प्रकार के अत्याचार करते थे। परंतु मजदूरों की स्थिति सुधारने की ओर किसी का पूरा पूरा ध्यान नहीं जाता था। शाही फर्मान से मजदूर लोग लाभ उठावेंगे, यह देख कर जमींदारों ने उस फर्मान में ही फेर फार करा दिया यह बात पीछे बताई जा चुकी है। कुलियों की दशा सुधरने पर कुछ साल तो जर्मनी में खेती की दशा अच्छी रही। उन्नसवीं शताब्दी के आरंभिक पचास वर्षों में तो कृषिप्रधान प्रांतों की आबादी शहरों की अपेक्षा बहुत अधिक रही; और उस समय तक जर्मन कृषि प्रधान देश था, यह कहने में कुछ हर्ज नहीं है।

आगे फिर उद्योग-युग आरंभ हुआ। शहरों की आबादी पुनः शीघ्रता के साथ बढ़ने लगी। कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों ने अपने संघ बनाना आरंभ कर दिया और वे यह कहने लगे कि हमें अमुक अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उनकी यह आवाज कानून बनानेवाले अधिकारियों के कान तक भी पहुँची। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि खेती का काम करनेवाले मजदूरों के संबंध में जो प्रश्न वर्तमान समय में उपस्थित हो रहा है, उसे बिना कारण हौआ बना दिया गया है। परंतु इन लोगों के ध्यान में यह बात नहीं आती कि गत चालीस पचास वर्षों में जितने सुधार-संबंधी कानून बनाए गए हैं उन सभों से कारखानों के मजदूरों का हित ही हुआ है। सन १८६९ में "लेबर कोड" नाम का कानून बनाया गया और उसमें समय समय पर सुधार

भी होता गया परंतु इस कानून में खेती का काम करनेवाले मजदूरों के नाम का उल्लेख भी नहीं है। कारखानों अथवा कलागृहों के निरीक्षण संबंधी भी कानून है, उसमें भी इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। बीमारी, अपघात, अशक्तता आदि के संबध में जीवन बीमा करने का कार्य गत २५ वर्ष से कारखानों के मजदूरों के लिये हो रहा है परंतु खेती का काम करनेवाले मजदूरों के लिये इसकी कोई उचित व्यवस्था नहीं है। कहीं कहीं अब इनके लिये भी इस प्रथा का अनुसरण होने लगा है परंतु जैसा लाभ मिलना चाहिए वैसा नहीं मिलता। बीमारी की हालत में जब वे लोग हाथ से काम करने में असमर्थ होते हैं उन्हें "पुअर ला" अथवा दान धर्म पर अपना गुजारा करना पड़ता है। कारखानों के मजदूरों के समान संघशक्ति के बल पर अपने मालिकों से समय पड़ने पर सहायता पाने का प्रबंध कानून द्वारा न होने के कारण, उन्हें अपने आत्म-संरक्षणार्थ केवल देशत्याग ही करना पड़ता है। देशत्याग ही एक शस्त्र है जिसके द्वारा वे अपनी आत्मरक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। सरकार को हम लोगों की कुछ भी फिकर नहीं है अतएव जिन लोगों को हमारी फिकर है उन्हीं की पंक्ति में चलकर बैठना चाहिए, यदि यह भाव उनके हृदय में जाग्रत हों तो कसूर किसका है? थोड़े दिन हुए जब एक दूरदर्शी जमींदार ने कहा था—"खेती का काम करनेवाले मजदूरों की जितनी मजदूरी आज हमने बढ़ाई है, यदि उतनी ही मज-दूरी पचीस वर्ष पहले हमने बढ़ा दी होती तो हमें आज मज-दूरों का इतना टोटा न पड़ता। अलावा इसके कम घन

खर्च करके आज कल की अपेक्षा अधिक अच्छे मजदूर हमको मिलते रहते।" यह कथन चाहे सच हो अथवा न हो परंतु एक बात अवश्य संभव थी। मजदूरों की दशा सुधारने के लिये जो कानून जारी किए गए, उनसे खेती के मजदूरों को भी लाभ पहुँचना चाहिए था, इस संबंध में जैसा विचार अब किया जा रहा है वैसा कुछ समय पहले से किया जाता और उद्योग धंधों का प्रसार होने से उत्पन्न हुई नवीन स्थिति के अनुसार नया कानून बनाने की सन् १८८१ में सरकार को जैसी आवश्यकता प्रतीत हुई वैसी ही यदि इन लोगों के संबंध में भी उत्पन्न होती तो आज खेती का काम करनेवाले मजदूरों की जैसी कठिन समस्या आकर उपस्थित हुई है, वैसी न उपस्थित होती। बड़े बड़े जमीदारों और छोटे छोटे किसान दोनों से एक ही भूल हुई और वह भूल और कुछ नहीं, यही थी कि जब तक मजदूरों के मन में जमीन के मालिकों से मिल कर रहने की बुद्धि बनी हुई थी उसी समय उनके कल्याण का मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिए था। परंतु ऐसा न करके केवल अहंभाव से जो उलटा मार्ग उन्होंने ग्रहण किया उसीका परिणाम आज वे भोग रहे हैं।

लोगों के उपयोग के लिये पहले जो जम... खाली पड़ी रहती थी वह अब खाली पड़ी नहीं रहने पाती। उसी तरह नकद मजदूरी के साथ कुछ माल देने की जो पहले पद्धति थी, वह पद्धति अब उठा दी गई है। इन दोनों कारणों से मजदूर लोग बहुत निराश हो गए हैं। खाली ज़मीन पड़ी न रहने के कारण उनके जानवरों को चरने के

लिये जगह नहीं रही। मजदूरी के साथ अनाज, आलू, ईंधन कंडा के लिए जमीन, जौ, अलसी आदि समान मिलता था। यह चाल चाहे बिलकुल अच्छी न हो तो भी इससे इतना लाभ अवश्य होता था कि मजदूर लोग जमीन से प्रेम करते थे। परंतु यह माल मिलना बंद होजाने से वे जमीन पर भाड़े के टट्टू के समान काम करते हैं और उनके परिश्रम का सारा फल मालिकों को प्राप्त होता है। जमीन में उत्पन्न हुई तरकारी अथवा फल फलहरी का एक तिनका अथवा टुकड़ा तक उन्हें नहीं मिलता। ऐसी दशा प्राप्त हो जाने से मजदूरों का जमीन पर और जमीन के मालिकों पर बिलकुल प्रेम नहीं रहा।

सब जमींदार और किसान लोग, अपने पास काम करनेवाले लोगों के कल्याणार्थ बिलकुल बेफिकर अथवा लापरवाह रहते हैं, यदि उपरोक्त किए हुए विवेचन पर से कोई यह परिणाम निकाले तो यह उसकी भूल है। क्योंकि कुछ लोग इस नियम से अवश्य बरी हैं। कुछ लोग अपने पास काम करनेवालों के साथ बहुत भलमनसाहत का व्यवहार करते हैं और मजदूर लोग भी उनके साथ प्रेमपूर्वक बर्ताव करते हैं। जहां पर इसके विपरीत कार्य होता है वहां पर मालिक लोग जान बूझ कर ऐसा करते हैं, यह बात नहीं है। उनके मन में यह बात समाई हुई है कि मालिक श्रेष्ठ लोग और मजदूर हीन लोग हैं। उनकी यह समझ आज की नहीं, इसे वे पुरातन काल की एक मर्यादा समझते हैं। सेकसन प्रांत के एक लेखक ने जमींदारों को यह उपदेश दिया है—"तुम्हारे

दिन अच्छे आनेवाले हैं, यह आशा मजदूरों के हृदय में उत्पन्न करने का प्रयत्न करो। मनुष्यों के रहने योग्य घर उनको रहने को दो। काम कराते समय उनकी शारीरिक दशा पर ध्यान रक्खो। बीमारी के समय उनकी और उनके कुटुंबियों की सहायता करो और सब से बड़ी बात यह है कि मजदूर हीन और हम लोग श्रेष्ठ, यह भाव दूर कर दो। मजदूरों की कठिनाइयों को जान कर उनके दूर करने का प्रयत्न करने से तुम्हारी मजदूरों के संबंध की कठिनाइयां भी दूर हो जांयगी। मजदूरों को सांपत्तिक कठिनाइयों के साथ साथ सामाजिक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है; इन सामाजिक कठिनाइयों से वे बिलकुल दब गए हैं।"

जिस जमीन पर काम करना है उस जमीन के विषय में मजदूरों के मन में प्रेम उत्पन्न हो और वे उसे छोड़ कर चले न जाँय, इस बाबत अब कई जगहों पर प्रयत्न किए जा रहे हैं। यह प्रयत्न सफल हो, ऐसी बहुत से उदार हृदय पुरुषों की इच्छा है। यदि वास्तव में देखा जाय तो मजदूरों की कठिनाइयां दूर करने का और उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो, इस बाबत मालिकों के मन में प्रेम उत्पन्न करने का उद्योग उदाराशय पुरुषों की ओर से होना चाहिए। परंतु ऐसे लोग अभी बहुत थोड़े हैं, यह दुःख की बात है। अब भी बहुत से जमींदार अपनी पुरानी पद्धति को हृदय से लगाए लकीर के फकीर बने हुए हैं। अपने पास काम करनेवाले मजदूर क्या हैं—अपने पैर की जूती हैं, यह विचार अब भी

उनके अंत:करण से दूर नहीं होता। नौकरों को उनके पास नौकरी पाने के लिये स्वत: आना चाहिए। इस प्रकार की कोई नई व्यवस्था ढूँढ निकालने की अपेक्षा वे लोग मजदूरों को जहाँ अधिक मजदूरी मिलती है, वहां जाने की रोक का प्रयत्न किया करते हैं और उन्हें दूसरी जगह अधिक मजदूरी न मिलने पावे, इसकी रोक का उपाय सोचा करते हैं और उनके मार्ग में नई नई कठिनाइयां उपस्थित करते रहते हैं। सन १९०७ में प्रशियन पार्लियामेंट में एक बहुत बड़े जमींदार ने यह स्पष्ट कहा था—"हर एक युवा मजदूर हमारे खर्च किए हुए धन की जीती जागती पूँजी— मूलधन—है। परंतु वे युवा काम करने योग्य होते ही कारखानों में जाकर प्रवेश पा जाते हैं और इसके लिये कारखानों के मालिकों को एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता।" कुछ साल हुए तब प्रशियन पार्लियामेंट में कांसरवेटिव पक्ष के सभासदों ने खेती का काम करनेवाले मजदूरों की स्थिति सुधारने के अनेक उपाय बताए थे। उन उपायों में से कुछ उपायों को सरकार ने स्वीकार भी कर लिया था। मज़दूरों और ज़मीदारों के मध्यस्थ बहुत से दलाल प्रशिया में पाए जाते हैं और उनका प्रभाव भी अच्छा है। "इंडस्ट्रियल कोड" में सरकार ने सुधार करके दलालों का उपद्रव कम कर दिया है। इस प्रकार का प्रबंध कर देने से मजदूरों का पैसा मजदूरों के ही पास रहता है। दलालों का कमीशन प्राय: बंद हो गया है। छुट्टी के दिनों में खेती का काम करने के लिये सेना में से सिपाही हर साल भेजने का नियम किया गया है। ऐसे लोगों की संख्या दिनों

दिन बढ़ती जाती है। केवल एक महीने, सन १९०७ की गर्मियों की छुट्टी में "फर्स्ट आर्मी कोर" में से सात हजार सिपाही पूर्वी प्रशिया में बड़े बड़े खेतों पर काम करने के लिये भेजे गए थे। राज-दरबार में आने जानेवाले अपने मित्र लोगों की मार्फत बड़े बड़े जमीदारों ने यह पद्धति पहले पहल शुरू की। अब छोटे छोटे ज़मीदारों को भी इस प्रकार की सहायता बिना किसी कठिनाई के प्राप्त हो जाती है। दक्षिणी प्रांतों में भी अब जमींदारों को सिपाहियों की सहायता प्राप्त होने लगी है। जमींदारों में से कुछ लोग यह कहते हैं कि सैनिक-सेवा के लिये जो यह नियम बनाया गया है कि दो वर्ष सैनिक-सेवा करनी ही होगी, यह उसे देना चाहिए, और उसके स्थान पर एक वर्ष सैनिक-सेवा की मियाद रखने से खेती के काम के लिये बहुतायत से लोग मिलने लगेंगे। जमींदार लोग अपने लाभ की ओर ध्यान रखकर सरकार को अनेक प्रकार की युक्तियां सुझाते रहते हैं। वे हर काम में अपनी अनुकूलता देखते हैं, दूसरे के सुख दुःख का विचार बिलकुल नहीं करते और इसी कारण सरकार उनके प्रस्तावों को प्रायः स्वीकार नहीं करती। मजदूरों ने कोई शर्त न मानी या किसी शर्त के अनुसार काम करने से इनकार कर दिया तो फिर वे बराबर यही प्रयत्न करते रहते हैं कि उन्हें कठिन से कठिन दंड दिया जाय। राजकीय विचारों का श्रोत प्रशिया में किस प्रकार बह रहा है इसका उदाहरण प्रत्यक्ष यह आंदोलन है। लिबरल पक्ष के लोग यह प्रयत्न कर रहे हैं कि शर्त के अनुसार काम न करने पर

दीवानी अदालतों द्वारा हर्जाना वसूल करने की प्रथा का अन्य लोगों के समान ही इन पर भी प्रयोग किया जाना चाहिए। परंतु जमींदार लोग इस प्रयत्न में हैं कि कानून में "सज़ा और जुर्माना" ये दोनों जहां रक्खे गए हैं वहां केवल कैद की सजा रखनी चाहिए। इसी प्रकार शर्त के अनुसार काम छोड़कर जानेवाले मजदूर को, और जो दूसरा कोई उस मजदूर को अपने यहां काम पर लगावे उसे, जो दलाल उसे नया मालिक तलाश कर दे उसे, और शर्त के अनुसार काम न करने के लिये जिसने उसे बहकाया हो उसे, इन सबों को कठिन दंड देना चाहिए।

मजदूरों की कठिनाई कब दूर होंगी, यह अभी कौन कह सकता है! परंतु वर्तमान समय में अन्य देशों से मजदूरों को लाकर काम निकालने का कार्य हो रहा है। प्रशिया के पूर्वी और उत्तरी भागों में और जर्मन राष्ट्र के और सब भागों में, थोड़ी बहुत करके गर्मियों का आरंभ होने से बरसात खतम होने तक विदेशीय मजदूरों से खेती का काम लेने की परिपाटी सी पड़ गई है। बड़े बड़े जमींदारों का सर्वस्व तो इन्हीं पर अवलंबित है। पूर्वी रूस में से बहुत से मजदूर वहां पहुँचते हैं, परंतु अब गलीशिया से भी बहुत से मजदूर आने लगे हैं। काल पूरा करके ये लोग अपने अपने घरों को वापस चले जाते हैं। जर्मनी में उन्हें कोई रहने नहीं देता।

विदेशीय मजदूरों को मजदूरी भी थोड़ी देनी पड़ती है। परंतु अनाज अथवा रहने की जगह, बहुत करके दोनों ही,

उन्हें अपने पास से देनी पड़ती हैं। इस कारण अपने घर वापस आने पर वे बहुत कम धन अपने साथ ले जाने पाते हैं। इन मजदूरों के साथ जमींदार लोग दयाधर्म का बर्ताव बिलकुल नहीं करते। इसके विपरीत वे उनके साथ द्वेष करते हैं और निरुपाय होकर ही वे लोग उनसे काम लेते हैं। परंतु इसी के साथ यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि मजदूर लोग भी मालिकों का काम बिलकुल मन लगाकर नहीं करते और शर्त पूरीहोने के पहले ही काम छोड़कर चलते बनते हैं।

प्रचलित कानून के कारण खेती का काम करनेवाले मजदूर लोग राजनैतिक बातों में अपना मन नहीं लगाते। उनमें अभी थोड़ी सी भी संघशक्ति उत्पन्न नहीं हुई है। इस का कारण केवल उनकी दरिद्रता है। दिनभर काम करने का मार्ग भी किसी ने सुझाया तो भी वे लोग उसे संशकित दृष्टि से देखते हैं। उन्हें विश्वास है कि यदि ये लोग इस पंचायत में पड़ेंगे तो जो कुछ गांठ में है उसे भी खो बैठेंगे। कृषि-प्रधान प्रांतों में उच्च कोटि के लोगों के हाथों में सब अधिकार होने के कारण मजदूर लोग दिल खोलकर बात भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उन्हें कोई एक भी नेता नहीं मिलता जो उनमें चैतन्य लाकर उत्साह प्रदान करे। प्रजा सत्तावादी (Social Democrats) लोग कुछ प्रयत्न करते हैं परंतु केवल पार्लियामेंट में मेंबरी के चुनाव के समय! उस समय भी उनके प्रयत्नों का विशेष फल दिखाई नहीं पड़ता।

इस विषय पर जिन लोगों ने बहुत दुखित होकर विचार किया है और खेती का काम करनेवाले मजदूरों की यथार्थ

दशा क्या है, यह समझ लेने का जिन्होंने सरलतापूर्वक प्रयत्न किया है, उनके ध्यान में यह बात अवश्य आई होगी कि मंडलियां अथवा समाज स्थापित करने के संबंध में शर्त-बंदी का वर्तमान कानून बहुत ही अधिक पक्षपातयुक्त है और वर्तमान सुधार-युग के बिलकुल विपरीत है। मजदूरों को कम मजदूरी मिलने के कारण वे अपना जीवन सुखमय व्यतीत नहीं कर पाते और इसी कारण खेती का काम करनेवाले मजदूर काफी तादाद में नहीं मिलते। यह बात सच होने पर भी सब से अधिक कठिनाई उपस्थित होने का कारण यदि कोई है तो वह कानून की विषमता ही है। इस कानून को सुधारने के लिये आज तक अनेक प्रयत्न हुए, पर वे सब अधूरे रहे। इस कानून में मनुष्यत्व को शोभा प्राप्त होने योग्य सुधार होने चाहिएँ पर सुधार होने तक अथवा सुधार होने के कुछ दिनों बाद तक भी शहरों की ओर आने-वाले मजदूरों की मात्रा में कमी होना संभव नहीं है।

पंद्रहवाँ अध्याय।

कोआपरेशन अर्थात् परस्पर सहायोगिता।

परस्पर लाभ पहुंचाने के लिये मिलकर चलना जर्मन लोगों का स्वभाव ही है। परमात्मा ने यह बुद्धि उन्हें प्रदान की है। उनकी इस बुद्धि का परिचय पुरातन काल से लोगों को मिलता आ रहा है। वर्त्तमान समय में इस बुद्धि का स्वरूप कोआपरेशन ने ग्रहण किया है। पंद्रह मनुष्यों में से एक मनुष्य जर्मनी की किसी न किसी कोआपरेटिव सोसाइटी का सभासद पाया जाता है। संयुक्त बृटिश राज्य कोआपरेशन का मूल स्थान है परंतु वहां बीस में एक आदमी भी कोआपरेटिव सोसाइटी का सभासद नहीं पाया जाता।

जर्मन कोआपरेटिव सोसाइटियों के चार भाग हैं। जनरल यूनियन, सेंट्रल यूनियन, रेफसन (Raiffeisen) और इंपीरियल यूनियन। सन् १९०५ से रेफसन यूनियन और इंपीरियल यूनियन मिलकर एक हो गए हैं और इन दोनों संयुक्त यूनियनों का संबंध खास कर कृषि और किसानों से है।

इन समितियों के मुख्य उद्देश्य ये हैं—साख देखकर रुपया कर्ज देना, कर्ज लेनेवाला चाहे खेती करनेवाला हो या व्यवसायी हो; कच्चा माल खरीद कर इकट्ठा करना; भिन्न भिन्न प्रकार का माल तैयार करना; कारखानों से तैयार

हुए माल का व्यापार करना और अनाज इकट्ठा करना और मकान बनवाना। इन छ प्रकार की समितियों में से कुछ को सरकारी सहायता प्राप्त है और कुल बिना सरकारी सहायता प्राप्त किए ही अपना कारोबार स्वतंत्रतापूर्वक चलाती हैं।

सन् १९०७ के आरंभ में सब प्रकार की समितियों की संख्या २५,७१४ थी, और इन समितियों के सभासदों की संख्या ३८,६०,१४३ थी। इनमें क्रेडिट (साख) सोसाइटियों की संख्या १५,६०२ थी, और कोआपरेटिव स्टोर्स की संख्या २००६ थी, और इन सभासदों की संख्या क्रमशः २१,१३६५३ और १०,३७६१३ थी। खेती पर उदरनिर्वाह करनेवाले खास कर छोटे छोटे किसानों की जर्मनी में बहुत अधिक समितियां हैं।

केवल प्रशिया में रजिस्टर्ड कोआपरेटिव सोसाइटियां सन् १८९० में २,९१२; १८९५ में ५,१३५; १९०० में ९,४२९; १९०५ में १३,३३१ थीं। सन् १९०४ में प्रति समिति के सभासदों का औसत १४७ था। प्रशिया में भी बहुत सी क्रेडिट सोसाइटियां हैं।

क्रेडिट सोसाइटियों में से बहुत सी तो देहातों और खेती से संबंध रखनेवाली "रूरल" हैं। इनमें से कुछ तो "लिमिटेड" कंपनियों के तौर पर चलती हैं। रेफ़सन सोसाइटियाँ ही केवल इस तत्व के विपरीत कार्य करती हैं। कच्चा माल उत्पन्न करनेवाली समितियों में चमार, दर्जी, नानबाई, हलवाई, कसेरे, कलईगर, नाई, रंगरेज आदि की समितियाँ ही मुख्य हैं। औद्योगिक काम की समितियों में

अनाज के कारखाने, बिजली और गैस तैयार करने के कारखाने, बढ़ई, खटिक आदि का काम करनेवाले अधिकतर हैं। कृषि समितियों में बहुत सी समितियाँ खलियानों से अनाज निकालने का काम करती हैं और कुछ भाप द्वारा चलनेवाले हल और अन्य प्रकार के कृषि उपयोगी यंत्रों को खरीद कर चलाती हैं। वेअर-हाउस सोसाइटियाँ मेज, कुर्सी, किवाड़, ईंटें, चमड़ा, जानवर, मुर्गियाँ, बत्तकें, अंडा, अनाज, स्पिरिट और तंबाकू, सिगरेट वगैर का व्यापार करती हैं। औद्योगिक व्यवसाय में काम आने योग्य कच्चे माल की समितियों में टोपी बनानेवाले, दर्जी, बढ़ई, चमार, यंत्र बनाने वाले लोहार आदि इसी प्रकार का काम करनेवाले लोग शामिल होते हैं। कारखानों में माल उत्पन्न करनेवाली समितियों में नानबाई, छीपी, कलवार, मेमार, जुलाहे और कोरी लोगों का समावेश होता है। खेती का काम करनेवाली समितियों में गोशाला (डेरीफार्म), शराब बनाने के कारखाने, अनाज की कोठियाँ, बागीचे, शरबत और मुरब्बा बनाने के कारखाने और खाद्य पदार्थ को बहुत दिनों तक टिकाऊ बना कर रखनेवाले कारखाने शामिल हैं। इनके अतिरिक्त पानी इकट्ठा करने, बीमा करने, जमीन खरीदने और उसे बेचने, पुस्तकें छापने और बेचने, हवा खाने जानेवाले लोगों के घरों की देख भाल और व्यवस्था रखने आदि भिन्न भिन्न प्रकार के कामों के लिये भी वहाँ समितियाँ मौजूद हैं।

जर्मनी में कृषि संबंधी समितियों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। सन १९०६ के अंत में इन समितियों

की संख्या २०,४३२ थी। इनके द्वारा छोटे छोटे गरीब किसानों को जितना लाभ पहुँचा है उतना कानून अथवा संरक्षण-कर नीति द्वारा भी नहीं पहुँचा है।

पुरानी पद्धति को बनाए रखने का स्वभाव जर्मन कृषकों की अनेक बातों में देखा जाता है। परंतु समाज और समितियों के स्थापित करने की नवीन पद्धति को उन्होंने बहुत जल्दी स्वीकार कर लिया। इस कारण उनको निजी दूकानों और साहूकारों से जिस शर्त पर रुपया मिलता था उससे आसान शर्तों पर उन्हें रुपया मिलने लगा और इस प्रकार उनकी साख भी बढ़ गई। बिना दलालों की सहायता से अब उन्हें आपस के कारखानों से ही खाद और बीज मिलने लगा है। पास पैसा न होने से खेती में काम आनेवाले यंत्र उन्हें उपलब्ध नहीं होते थे। वे उन्हें अब आसानी से मिलने लगे हैं। भाप के जोर से चलनेवाले हल, और अनाज की मिडाई आदि के यंत्र, समितियों की सहायता से किसानों को मिलने में आसानी हो गई है। जमीन की पैदावार अनाज, आलू, फलादिक, दूध अंडा वगैरह बेचने के लिये अब उन्हें स्वतः परिश्रम नहीं करना पड़ता। यह सब काम बाहर बाहर ही समितियों द्वारा हो जाता है और साथ ही पहले की अपेक्षा मूल्य भी अब अधिक मिलने लगा है। दूध, मक्खन, घी वगैरह को पुरानी पद्धति से किफायत नहीं होती थी और न अच्छा माल ही तैयार होता था। वही माल अब यंत्रों की सहायता से किफायत के साथ अच्छा तैयार होने लगा है और इसका लाभ भी उन लोगों को प्राप्त होता

है। तात्पर्य यह है कि पहले समय में जो अनुकूल साधन बड़े बड़े जमींदारों को प्राप्त थे, वे अब इन नवीन संस्थाओं के कारण छोटे छोटे जमीदारों और किसानों तक को प्राप्त होगए हैं। कृषि-प्रधान प्रांतों में उपरोक्त सब प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि के लिये अनेक समितियां स्थापित हो गई हैं और उनके द्वारा बहुत से महत्व के कार्य हो रहे हैं। खेत की पैदावार बेचने के लिये हनोवर प्रांत में जो को-आपरेटिव सोसाइटियां स्थापित हैं, उन्होंने सन् १९०६ में ४,२८,००० पौंड मूल्य के माल का लौट फेर किया। अपने लिये किसान लोग क्या कर सकते हैं इसका एक उदाहरण यहां देते हैं। प्रशिया में खान से पोटाश निकालने की एक कंपनी है। उस कंपनी के बहुत से हिस्से कृषि-समितियों ने खरीद लिए और इससे व्यवसाय का महत्व अधिक बढ़ गया।

यदि कृषक लोगों को यथार्थ में लाभ पहुँचा है तो सहकारी समितियों द्वारा ही। "कोआपरेशन से कृषकों की साख बढ़ी और उनके नाश होने का भयंकर समय टल गया।" ये उद्गार एक बहुत बड़े जमींदार ने एक अवसर विशेष पर कहे थे। इन सोसाइटियों ने इतने महत्व के काम किए और अब भी कर रही हैं जिनका परिणाम कृषकों के लिये बहुत लाभदायक साबित हुआ। रेफसन सोसाइटियों ने जो काम कर दिखलाया है वह विलक्षण था। अतएव उसका विस्तारपूर्वक हाल यहां पर देना बहुत आवश्यक है। इंग्लैंड में कृषि संबंधी जो सबसे बड़ी कठि-

नाई है, वह यह है कि समय पर कम व्याज पर रुपया किसानों को नहीं मिलता। अतएव रेफसन सोसाइटियों का हाल जान कर इंग्लैंड में जो कठिनाइयां उपस्थित हैं वे दूर की जा सकती हैं। इंग्लैंड में बैंक हैं और उधार रुपया देनेवाली समितियां भी हैं परंतु इनसे रुपया उधार लेने पर किसानों को अधिक व्याज देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बैंक जो जमानत मांगे वह भी देनी पड़ती है। यदि जमानत देने का प्रबंध कोई न कर सके तो फिर उसे रुपया उधार मिल ही नहीं सकता। इंग्लैंड की यह स्थिति ध्यान में रखने योग्य है। इंग्लैंड के कृषक लोगों में कोआपरेशन तत्व पर चलनेवाली बैंकों अथवा उधार रुपया देनेवाली सहकारी समितियों का विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए, नहीं होता। बैंक स्थापित करनेवालों को इंग्लैंड में धन की कमी हो, यह बात संभव नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो रेफसन नाम से चलनेवाले जर्मन बैंकों और इसी नमूने पर चलनेवाली आस्ट्रिया की बैंकों की इतनी उन्नति न दिखाई पड़ती।

फ्रेडरिक विल्हेल्म रेफसन नाम का एक परोपकारी पुरुष ह्राइनलैंड में रहता था। उस प्रांत में उसने सन् १८१८ से १८८८ तक निवास किया। वह वहां पर मेयर का काम करता था। कृषकों को कृषि कार्यों के लिये धन मिलने में कितनी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, इस बात का उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ। इस अनुभव के पश्चात् उसे यह भी मालूम हुआ कि छोटे छोटे किसानों के पीछे धन की कठिनाई

सदा ही लगी रहती है और इस कठिनाई को दूर करने के लिये उन्हें महाजनों के पास गए बिना और कोई चारा नहीं हैं। ये महाजन 'ज्यू' जाति के होते हैं, जिनमें दया का तो नाम ही नहीं है। रेफसन ने कितने ही उदाहरण ऐसे देखे कि समय पर उधार लिया हुआ रुपया न पहुँचने पर अथवा सरकारी मालगुजारी या जमींदार का लगान का रुपया न अदा होने पर थोड़े से ही धन के लिये उन्हें अपने हल बैल ज्यू महाजनों के सपुर्द कर देने पड़ते हैं। महाजन पक्के चालबाज़ होते हैं—कानून कायदे का उल्लंघन न करते हुए जहां तक हो सके अपने पंजे में फँसा लेने का वे बराबर प्रयत्न करते रहते हैं। उनके दांव पेंच समझने की बुद्धि उन बिचारे किसानों में कहाँ ! महाजनों के फंदे में किसान लोग फँस न जावें इसकी जांच रेफसन स्वतः करता रहता था और जब कभी मौका आता, किसानों को दुष्ट महाजनों के पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न करता। मेयर होने से उसके हाथ में राज्याधिकार था और बुद्धिमता होने के कारण वह किसानों के ऊपर महाजनों का अत्याचार होने नहीं देता था। यदि कभी किसानों को अपने जानवर वगैरह बेंचने की जरूरत पड़ती तो महाजनों की मार्फत न बिकने देकर वह स्वतः उनके साथ बाजार जाकर बेचने का प्रबंध करा देता। उस समय महाजन लोग यह कहने लगे थे कि यह व्याध कहां से पीछे लग गई। यदि कोई किसान महाजनों के पास उसका नाम ले देता तो उनका दिमाग ठंढ़ा पड़ जाता था। इसी लिये किसान लोग उसे प्रेम और आदर की दृष्टि से देखते थे। किसानों की कठि-

नाइयों को जान कर और ये कठिनाइयां किस के दोष से उत्पन्न हुई हैं, इस विषय में स्वतः का अनुभव प्राप्त करके "कोआपरेटिव क्रेडिट असोशियेशन" स्थापित करने की कल्पना उसके मन में उत्पन्न हुई। आरंभ में थोड़ा सा कार्य करने पर ही उसे यश प्राप्त हुआ। अतएव ह्राइन नदी के किनारे कई स्थानों पर अल्प प्रमाण पर उसने असोसियेशन स्थापित किए। परंतु धीरे धीरे इस संस्था का महत्व और कीर्ति इतनी बढ़ी कि जर्मनी में किसानों की एक विशाल कोआपरेटिव संस्था स्थापित करने के उद्योग में उसने अपने जीवन का बाकी समय लगा दिया। उसके दीर्घ प्रयत्न से इस मुख्य संस्था की शाखाएँ जर्मनी भर में फैल गईं और उनके द्वारा अनेक महत्व के कार्य होने लगे।

इस संस्था की मुख्य संस्था "सेंट्रल इंस्टिट्यूट" न्यूवीड स्थान में है। आज कल इस संस्था के आश्रय में उधार देनेवाली बहुत सी समितियां स्थापित हो गई हैं। इसी प्रकार किसानों के काम में आने योग्य माल के कोअपरेटिव स्टोर्स भी स्थापित किए गए हैं। हर प्रकार के सामान की बड़ी बड़ी दूकानें भी न्यूवीड में संस्था की ओर से खोली गई हैं। उदाहरणार्थ—फ्रँकफोर्ट में यंत्र सामग्री का एक बहुत बड़ा डिपो है। भिन्न भिन्न शाखाओं से माल को इकठ्ठा करने का 'कलोन' में एक "वेअर-हाउस" है। कृत्रिम खाद बनाने तथा तंबाकू पैदा करने के भी कई एक कारखाने सहकारी समितियों द्वारा चल रहे हैं। इन सब कामों को उत्तमतापूर्वक चलाने के लिये तीन सौ से अधिक भिन्न भिन्न दर्जे के अधि-

कारी काम करते हैं और इसी पर से इस संस्था की व्यापकता की कल्पना पाठक कर सकते हैं ।

सहकारी समितियां किस सिद्धांत पर चलती हैं, इसकी विवेचना स्थल संकोचवश स्थूल दृष्टि से ही यहां की जाती है। क्रेडिट असोसियेशनों का मूलधन हिस्सों (शेएर्स) के रूप में इकट्ठा किया जाता है। हर एक हिस्से का मूल्य ज्यादा से ज्यादा दस शिलिंग रक्खा जाता है। एक आदमी को एक से अधिक हिस्सा नहीं दिया जाता। लोगों से उधार रुपया लेकर असोसियेशंन को जितना ब्याज देना पड़ता है उससे अधिक "डिविडेंड" का भाग हिस्सा खरीदने वालों को नहीं मिलता। असोसियेशनों के सभासदों की सारी जायदाद जमानत के तौर गिरवीं रखकर कोआपरेशन की जो पद्धति (Cooperation with unlimited liability) है उसके अनुसार इस असोसियेशन का काम चलता है। यह पद्धति ठीक नहीं है, ऐसा आक्षेप बहुधा लोग करते हैं, परंतु व्यवहार में उससे हानि की अपेक्षा लाभ होने का अनुभव प्राप्त हुआ है। रेफसन समितियां आज पचास वर्ष से बराबर काम कर रहीं हैं। परंतु इतने समय में भी सभासदों को इस तत्व के अनुकूल काम करने पर कभी कोई हानि होते नहीं देखी गई और न भविष्यत् में हानि होने की कोई संभावना ही दिखाई पड़ती है, क्योंकि इस पद्धति से होशियार, विश्वासपात्र और यथाशक्ति योग्यता के मनुष्यों के हाथ में असोसियेशन के काम की सारी व्यवस्था होने से, वे उनका काम बहुत जी लगाकर, करते हैं।

अच्छा कृषक वही कहलाता है जिसे अपने खेती के काम से प्रेम होता है, जिसे खेती के काम से पूरी पूरी जानकारी होती है, और जो कठिनाइयों के समय अपने स्वतः के साहस और भरोसे पर अपने को सम्हाल लेता है। ऐसे कृषकों की ओर यह संस्था बहुत ध्यान देती है। इसके विरुद्ध जो मन लगा कर अपना काम नहीं करते, उतावली के साथ अव्यवस्थित काम करते हैं, उनको असोसियेशन की ओर से मांगने पर भी सहायता नहीं दी जाती। कारीगरों और उद्योग धंधा करनेवाले मजदूरों को भी जो खेती से थोड़ा बहुत संबंध रखते हैं औजार खरीदने अथवा मकान बनाने या मरम्मत करने के लिये धन की जरूरत पड़ने पर सहायता देने का विचार किया जाता है।

कर्ज पाने की दरख्वास्त आने पर पहले तो कर्ज लेनेवालों की वर्त्तमान स्थिति की ध्यानपूर्वक जाँच की जाती है। इस जांच में उसके दोष ढूँढने का प्रयत्न नहीं किया जाता। दरख्वास्त देनेवाले की सांपत्तिक स्थिति, साख, जमानत, रुपया कर्ज लेने का कारण, उससे होनेवाले लाभ आदि बातों की ही जाँच खास तौर पर की जाती है। कृषकों की दृष्टि में यह जाँच होना जितना आवश्यक है असोसियेशन की दृष्टि से भी वह उतनी ही आवश्यक है, क्योंकि असोसियेशन के आश्रय में आनेवाले लोगों को उचित उत्साह और सहायता देना ही असोसियेशन का मुख्य उद्देश्य है। कर्ज लेनेवाले से जमानत यदि लेनी होती है तो बहुत करके गहने के रूप में ली जाती है। वह गहना कर्ज के रुपए से दूने

दाम का होना चाहिए, यह एक नियम है। परंतु व्यवहार में इस नियम का पालन अक्षरशः नहीं होता।

लिया हुआ कर्ज कितने दिनों में वापस करना चाहिए, इसके लिये कुछ नियम हैं। पहला नियम यह है कि कम से कम तीन महीने में रुपया अदा किया जाय और ज्यादा से ज्यादा दो वर्ष में। पहले वर्ष के अंत तक कुछ न कुछ थोड़ी बहुत रकम वापस कर देनी पड़ती है। दूसरे नियम में रुपया वापसी की कोई मियाद नहीं है। कर्ज लेनेवाला अपनी आसानी को देखकर जब रुपया वापस दे, तब ले लिया जाता है। परंतु रुपया वापस करने की जो तारीख नियत है उस तारीख पर रुपया अवश्य ही आ जाना चाहिए, क्योंकि इसी पर बहुत से बैंकों का यश अथवा अपयश अवलंबित है। एक महीने की नोटिस अर्थात् सूचना देकर कर्ज का रुपया मांगने का अधिकार भी असोसियेशन को प्राप्त है।

एक दूसरे को भिन्न भिन्न मार्गों में मदद पहुँचा सकें, इस उद्देश्य का ध्यान सदा रक्खा जाता है। असोसियेशन को जो लाभ होता है वह सब "रिजर्व फंड" के तौर पर अलग रख दिया जाता है। परंतु सभासदों को कर्जा देने के लिये विशेष सुभीता देने की योजना की गई है। हिसाब किताब लिखनेवाले को छोड़ बाकी सब अधिकारी कुछ भी वेतन न ले कर मुफ्त काम करते हैं। वेतन मिलना ही चाहिए, यह बात उनके मन में कभी नहीं आती। उन्हें यदि कुछ स्फुट खर्च करने की जरूरत हो तो वह असोसियेशन की ओर से दिया जाता है।

असोसियेशनों में सम्मिलित हुए कृषक लोगों में परस्पर सहायता करने की बुद्धि उत्पन्न हो और उसी के अनुसार काम करने का चाव उनमें हो इसका प्रयत्न सदा होता रहता है। लोग अपना स्वार्थ सिद्ध न कर सकें, इसके लिये असोशियेशन ने नियम बना दिए हैं। देहाती समितियों का प्रधान पद पाठशाला के शिक्षकों को बहुधा मिलता है और वे लोग समाज की जो कुछ सेवा करते हैं वह बहुत ही महत्व की है। पाठशाला के शिक्षकों का पेशा लोगों के लिये बहुत उपयोगी साबित होता है। उनमें सार्वजनिक कार्य करने का हौसला होता है। वे गाँव के लोगों को यह बात अच्छी तरह समझा सकते हैं कि उन्हें अपनी सांपत्तिक स्थिति किस प्रकार सुधार लेनी चाहिए। रेफ़सन-बैंक के वे सेक्रटरी नियत होते हैं और छोटे छोटे किसानों को रुपया उधार देते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस बात की भी गाँववालों को शिक्षा देते हैं कि उन्हें खेतों पर किस तरह काम करना चाहिए और अपना माल किस तरह बेचना चाहिए। किफ़ायत के साथ खर्च करने की भी वे गाँववालों को सलाह देते रहते हैं। सप्ताह भर में जो रुपया किसान लोग बचा लेते हैं उसे वे अपने पास जमा कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि गरीब किसानों के लिये शिक्षक लोग मार्ग-दर्शक का काम देते हैं। युक्तिपूर्वक बातें समझा कर वे उन्हें उचित सलाह देते हैं और मित्रता का व्यवहार करके उनके हितू बन जाते हैं। परंतु यह सब काम वे एक कौड़ी की अभिलाषा न रखते हुए केवल गरीब और अनाथ लोगों

की सहायता की दृष्टि से ही करते हैं।

सब स्थानों की समितियाँ न्यूवीड की "सेंट्रल बैंक में" जा कर संमिलित हो जावें, ऐसी व्यवस्था की गई है। रेफसन संस्था को चलाने का सारा काम इस संस्था को सौंपा गया है। इस संस्था को अपनी मुख्य संस्था मान लेने से छोटी छोटी संस्थाओं को बड़ा लाभ पहुँचता है। किसी बड़ी संस्था को आधारभूत मान कर आवश्यकतानुसार धन अपने पास रख कर बाकी का धन मुख्य संस्था को देने से अधिक लाभ होता है। इसी प्रकार यदि कभी धन की आवश्यकता हुई तो उसे मुख्य संस्था से धन आसानी से प्राप्त भी हो जाता है। सेंट्रल बैंक की स्थापना सन १८७६ में हुई थी। उस का मूल धन २,५०,००० पौंड का था। उसके नियम ऐसे अच्छे हैं कि यदि नियमानुसार काम होता चला जाय तो लाभ के बजाय हानि की कोई संभावना ही नहीं है। बहुत करके सब हिस्से स्थानिक असोसियेशनों ने ही खरीद लिए हैं। बिना आज्ञा के वे अन्य लोगों को दिए नहीं जा सकते और बैंक के देने की जिम्मेदारी हिस्सेदारों पर उनके हिस्से की रकम से ज्यादा नहीं होती। सेंट्रल बैंक के संबंध में लोगों का इतना विश्वास जम गया है कि अब ४, १४७ स्थानिक असोसियेशन उससे लेन देन करते हैं। तीन करोड़ सत्तर लाख पौंड की रकम, उसकी व्यापार में लगी हुई है। सन १९०६ में " इंपीरियल बैंक " के व्याज की दर साढ़े आठ फी सदी सालाना थी और यदि थोड़े दिनों के लिये रक़म की जरूरत हो तो नि^ज की बैंक दस रुपया

सैंकड़ा सालाना तक सूद लेती है। परंतु रेफसन सेंट्रल बैंक अपने मेंबरों को केवल साढ़े तीन या चार सैकड़ा सालाना व्याज पर रुपया देती है। इस से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस बैंक की साख कितनी ज्यादा है। बैंक के जनरल डायरेक्टर हर साल अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं। यदि उसे देखा जाय तो यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी। देहाती असोसियेशन भी आश्चर्यजनक कार्य कर रहे हैं। इस रिपोर्ट से कुछ बातें नीचे उद्धृत की जाती हैं।

"बेसवीलर (Baesweiler) की सेविंग्स बैंक को बहुत यश प्राप्त हुआ है। इस बैंक की स्थापना होने के समय से अब तक पत्थर का काम और खानों में काम करनेवालों के लिए १५ मकान मोल लिए गए हैं और गाँव की सांपत्तिक स्थिति में बहुत कुछ सुधार हुआ है। सभासदों ने तीन हजार पौंड की धरोहर रक्खी है। इसी से वे कितनी किफायत से चलते हैं, इस बात का पता चल जाता है। उधार रकमों पर बैंक चार रुपया सैंकड़ा सालाना सूद लेती है और २५ पौंड तक की रक़म जमा करने पर साढ़े तीन रुपया सैंकड़ा सालाना सूद देती है। इस बैंक से इस गाँव के लोगों का बहुत कुछ कल्याण हुआ है।"

"को-आपरेटिव स्टोर्स का काम तो बिलकुल आश्चर्यजनक है और उससे सभासदों को बहुत बड़ा लाभ पहुँचता है। किसानों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के नवीन यंत्र असोसियेशन ने खरीद लिए हैं। ये नवीन यंत्र बिचारे किसानों को कौन

मँगा कर दे सकता था ? इन यंत्रों की सहायता से अब उनकी खेती बहुत ऊँचे दरजे की हो गई है।"

दूसरे एक और गांव के विषय में रिपोर्ट में लिखा है—"यहाँ पर खेत जोतने के लिये हल बैल किराये पर लेने का रिवाज था। किराये पर हल बैल लेनेवाले को लाभ भी बहुत होता था। परंतु किसानों का इससे हानि के अतिरिक्त मनमाना काम भी नहीं होता था। किसानों को अपने हल बैल अपने पास रखने चाहिएँ और इसके लिये असोसियेशन ने जब से किसानों को रुपया उधार दिया तब से यह प्रथा बंद हो गई। कृत्रिम खाद जब से मिलने लगी तब से परती जमीन का नामनिशान ही मिट गया और फसल भी अच्छी पैदा होने लगी।"

लोरेन के असोसियेशन के सरकारी इंस्पेक्टर ने एक जनरल रिपोर्ट में लिखा है—"रुपया उधार देने की जो पद्धति है वह रुपया उधार देनेवाले के लिये बहुत लाभदायक है। खास कर रुपया वापस करने में बहुत से सुभीते कर दिए गए हैं। प्रति सप्ताह के अंत में जो धन उनके पास बच रहता है वही धन वे वापस कर लेते हैं। को-आपरेटिव के सिद्धांत पर जो माल बेचने के लिये दूकानों में इकट्ठा किया जाता है वह ऐसा होता है जो हर वक्त लोगों के काम में आता रहता है। जिस प्रांत में रेफसन असोसियेशन पहले न थे वहां कृत्रिम खाद का मूल्य बहुत अधिक था परंतु असोसियेशन की स्थापना होते ही वहां खाद का भाव सस्ता हो गया और बहुत से लोग उसका उपयोग करने लगे।

इस उपाय से जमीन की पैदावार भी बढ़ गई। जहां पहले तीन महीने के लायक गेहूं पैदा होता था वहां अब साल भर के लायक पैदा होने लगा। उचित से अधिक व्याज तो किसी को देना नहीं पड़ता, इसकी निगरानी असोसियेशन के अधिकारी लोग करते रहते हैं और समय पड़ने पर सभासदों को उपयोगी सलाह भी असोसियेशन की ओर से दी जाती है।"

आज कल ४१५९ "रूरल को-आपरेटिव लोन असोसियेशन" न्यूवीड की सेंट्रल संस्था के आश्रय में चल रहे हैं। यदि इसमें कृषि उपयोगी यंत्र और अन्य प्रकार का सामान बेंचनेवाली को-आपरेटिव स्टोर्स, जिनकी संख्या ६५२ है मिला लिये जॉय तो कुल असोसियेशनों की संख्या ४,८११ हो जाती है। सन् १९०५ में सेंट्रल और स्थानिक एसोसियेशनों ने व्यापार में जितना लेन देन किया उसकी अपेक्षा पांच करोड़ पौंड अधिक का लेन देन सन् १९०६ में हुआ। आरंभ में रेफसन संस्थाएँ बिलकुल सामान्य थीं, परंतु अब इनका प्रचार केवल जर्मनी में ही नहीं आस्ट्रिया, इटली, स्विट्जरलैंड, इंग्लैंड और आयर्लैंड तक में हुआ है। इस संस्था से कृषकों को साम्पत्तिक लाभ तो बहुत ही अधिक हुआ ही है परंतु नैतिक लाभ भी कुछ कम नहीं हुआ है, क्योंकि रेफसन ने जो उद्देश्य अपने सामने रखकर संस्था की स्थापना की थी वह यह था कि कृषकों की स्थायी रूप से नैतिक उन्नति होनी चाहिए और उसके होने के लिये आवश्यक धन की सहायता उन्हें प्राप्त होनी चाहिए। रेफसन

संस्थाएँ अब इतनी अधिक दृढ़ हो गई हैं कि को-आपरेशन की जड़ में कौन सा तत्व है और उसका व्यवहार में किस तरह उपयोग किया जाना चाहिए, इसकी शिक्षा भविष्य में काम काज करनेवाले को नियमानुसार देने के लिये, शीघ्र ही "ट्रेनिंग क्लास" खोलने का इस संस्था ने निश्चय किया है।

रेफसन सेंट्रल असोसियेशन की एक भिन्न शाखा है जो सामाजिक दृष्टि से किसानों की दशा सुधारने का प्रयत्न स्थानिक असोसयेशनों के द्वारा किया करती है। युवा, बालक और बालिकाएँ इस संस्था की सहायता से "कंटिन्यूएशन" पाठशालों में शिक्षा पाती हैं। पाकशालाएँ, स्नानगृह, कपड़ा धोने की भट्टियाँ, पुस्तकालय, वाचनालय, बीमारों की सहायता करने, अनाथ लोगों के मुर्दों को गाड़ने आदि अनेक उपयोगी काम इस संस्था की मार्फत होते रहते हैं। शहरों में औद्योगिक विकास को उत्तेजना देने के लिये घरों में बैठ कर कौन कौन से काम किए जा सकते हैं, इस ओर अब इस संस्था ने ध्यान दिया है।

प्रशिया में को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटियों को सहायता पहुँचाने के लिये "सेंट्रल को-आपरेटिव बैंक" नाम से सरकार ने एक बैंक स्थापित कर दी है। जिन को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटियों को पैसे की ज़रूरत होती है उन्हें इस बैंक से धन दिया जाता है। इस काम के लिये गवर्मेंट ने बहुत सा रुपया इस बैंक को दे रक्खा है। देहाती "सेविंग और लोन सोसाइटियों" और छोटी छोटी "क्रेडिट सोसाइटियों" को जब धन की आवश्यकता प्रतीत हुई तो कम

व्याज पर धन मिलने में कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं और ज्यों ज्यों उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया त्यों त्यों वे कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ने लगीं यह बात बहुत वर्ष हुए तभी ध्यान में आने लगी थी। छोटे छोटे किसानों का जिन सोसाइटियों से अधिक व्यवहार रहता है उन्हें पूंजी की कठिनाइयाँ सदा सताया करती हैं और ये कठिनाइयाँ महाजनों से रुपया लेकर दूर करना बिलकुल असंभव है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये पहले पहल सरकारी तत्त्व पर जो कार्य आरंभ किया गया वह इस प्रकार था। प्रांतिक सोसाइटियों ने मिलकर "लिमिटेड" कंपनियाँ बनाईं। उन कंपनियों ने अपनी शाखा-सोसाइटियों में जो धन बाकी था, उसे बराबर बांट कर जिस सोसाइटी की दशा अच्छी थी, उसके धन का लाभ नवीन और ज्यों त्यों करके चलनेवाली सोसाइटियों को प्राप्त हो, ऐसी व्यवस्था की।

इसके बाद सन् १८९४ में जर्मन एग्रीकलचरल को-आपरेटिव सोसाइटियों की दसवीं कांग्रेस में जो हनोवर में हुई थी, यह निश्चय किया गया था कि उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये सारे साम्राज्य के हितार्थ एक "सेंट्रल बैंक" स्थापित करना चाहिए। यह विचार बहुत उत्तम और उपयोगी है, इसकी चर्चा चारों ओर होने लगी। प्राशियन सरकार को तो यह विचार इतना उत्तम प्रतीत हुआ कि उसने प्राशिया में तो तुरंत ही ऐसी बैंक स्थापित करने का प्रबंध कर दिया। सन १८९५ में वहां "स्टेट सेंट्रल को-आपरेटिव बैंक" स्थापित हो गई। जिस प्रकार " इंपीरियल बैंक " व्यापारियों को

धन की सहायता पहुँचाती है उसी प्रकार छोटे छोटे किसानों को धन द्वारा सहायता पहुँचाना इस बैंक का मुख्य उद्देश्य था। अब भी इसी उद्देश्य के अनुसार कार्य होता चला जा रहा है। इस बैंक का मूल धन आरंभ में २,५०,००० पौंड था और इस मूल धन पर तीन फी सदी ब्याज देना स्थिर किया गया था। परंतु यह मूल धन शीघ्र ही २५ लाख पौंड तक बढ़ाना पड़ा और ब्याज की दर में किसी प्रकार की कमी बेशी नहीं की गई। कम दर के ब्याज पर बहुत सा रुपया बैंक के पास होने से महाजनों की अपेक्षा कम ब्याज पर जितनी रकम की किसानों को जरूरत हो उतनी रकम मिल सकती है। इस बैंक से जो कर्ज दिया जाता है वह व्यक्ति विशेष को अथवा को-आपरेटिव सोसाइटियों को न दिया जाकर, सोसाइटियों के असोसिये-शनों को दिया जाता है। परंतु इस व्यवस्था के अनुसार भी किसानों को चार रुपया सैकड़ा से अधिक ब्याज नहीं देना पड़ता। इस बैंक के स्थापित हो जाने के बाद से, अपनी साख कम होने के कारण अपने को कौन कर्ज देगा, किसानों और मजदूरों का यह दीनतायुक्त वाक्य सुनाई नहीं पड़ता। इतना ही नहीं, इस बैंक की सहायता से उनकी दशा बहुत कुछ सुधरती जा रही है। किसानों की इस दशा को देखकर कुशल कारीगरों ने भी अपने लिये को-आपरेटिव, सेविंग्स और लोन सोसाइटियां स्थापित की हैं। उन्हें भी समय पड़ने पर इस बैंक से द्रव्य की सहायता प्रदान की जाती है।

इस अध्याय के आरंभ में यह बात बताई गई है कि "जनरल यूनियन" के आश्रय में काम करनेवाली जो संस्थाएँ हैं, उनका मुख्य तत्त्व स्वावलंबन होने से को-आपरेटिव बैंकिंग के झगड़े में सरकार को पड़ना पसंद न था। प्राशियन "लोअर हाउस" के कुछ सभासदों ने सरकारी प्रबंध को नष्ट कर देने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, परंतु उन्हें कुछ यश प्राप्त नहीं हुआ। इसके विरुद्ध सरकारी बैंक की उपयुक्तता विशेष प्रकार से लोगों के ध्यान में आने पर बवेरिया, साक्सेन, मेक्टन-बर्ग प्रांतों में भी प्राशियन सरकार के नमूने पर को-आपरेटिव बैंकों की स्थापना कर दी गई। को-आपरेशन के आंदोलन का इतिहास यदि देखा जाय तो यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है कि वर्त्तमान समय में जितना इसका आंदोलन हो रहा है उतना पहले समय में न था, और उसकी उपयु-क्तता के विषय में किसानों को जितना दृढ़ विश्वास अब है, उतना पहले कभी न था। इस विश्वास पर भरोसा करना भूल है यह नहीं कहा जा सकता, परंतु कदाचित् उसका व्यवहार मर्यादातीत होने से अंतिम परिणाम निराशाजनक होगा, ऐसा भय मालूम होता है, क्योंकि अति विश्वास का परिणाम यह होगा कि जहां को-आपरेशन का वास्तविक उपयोग नहीं हो सकता वहां भी उसका उपयोग करने का विचार लोग करने लगेंगे, और इस प्रकार कार्य होने से अंतिम परिणाम निराशा के सिवाय और क्या हो सकता है ? कृषकों की ओर के एक सभासद ने प्राशियन पार्लियामेंट में एक समय यह कहा था—'गरीब लोगों की सहायता करना

ईसाई धर्म सिखलाता है। अतएव इस धर्माज्ञा के अनुसार सरकार को किसानों की वर्त्तमान समय की अपेक्षा अधिक सहायता करनी चाहिए'। और भी एक सभासद ने यह कहा था—"हर एक कृषि कालेज में को-आपरेशन का एक प्रोफेसर होना चाहिए।" इन दोनों सज्जनों ने अपने उपरोक्त कथन में, को-आपरेशन पर जरूरत से ज्यादा विश्वास प्रगट किया है। परंतु मर्यादा के बाहर को-आपरेशन से लाभ उठाने की इच्छा रखनेवाले लोगों को इच्छानुसार लाभ नहीं होता तो भी व्यवहारिक दृष्टि से किसानों को को-आपरेशन से अपरिमित लाभ पहुँच रहा है, इसमें संदेह नहीं है।

साम्राज्य सरकार और प्रांतिक सरकार को-आपरेटिव आंदोलन के साथ जो सहानुभूति दिखा रही है और व्यवहार में भी जो सहायता पहुँचाती हैं वह मामूली काम करनेवाले व्यापारियों को पसंद नहीं है और वे को-आपरेशन का कार्यक्षेत्र कानून द्वारा मर्यादित कर देने के लिये पार्लियामेंट में बार बार निवेदन किया करते हैं। उनका यह कहना एक स्वाभाविक बात है, क्योंकि को-आपरेटिव सोसाइटियों के स्थापित होने से, उनके हाथ से किसान ग्राहक बिलकुल अपने आप निकल गए, दलाली का काम करनेवाले लोग भी इसी प्रकार रो रहे हैं। इस झगड़े या वाद विवाद का चाहे कोई भी कारण विशेष हो, परंतु गरीब किसानों के कल्याणार्थ, इन लोगों की हानि का कुछ भी मूल्य नहीं है, सरकार को इस बात का पूरा विश्वास है। इसी कारण इन वाद विवाद करनेवालों की सरकार के सामने कुछ चलती नहीं, यह स्पष्ट है।

सोलहवाँ अध्याय ।

प्रजा की वृद्धि और शिशु-रक्षा ।

"राष्ट्रीय शक्ति" (National efficiency) के कठिन शब्द का यद्यपि जर्मनी में बहुत व्यवहार नहीं किया जाता तथापि देश की संतान विशेष बलवान और उत्साही हो इस विषय में विचारपूर्वक और शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अनेक प्रकार के उद्योग होते रहते हैं। यह उद्योग बालक जब से पालने में पैर रखता है उसी समय से आरंभ हो जाता है। बचपन से ही बालकों की शारीरिक शक्ति की ओर ध्यान न देने के कारण जब बड़े होने पर उनके शरीर को रोग जकड़ लेते हैं उस समय प्रयत्न करने की अपेक्षा पहले से ही प्रयत्न किया जाना कितना अच्छा है, इस बात को ध्यान में रख कर बालकों की मृत्युसंख्या को कम करने का प्रयत्न गत दस वर्षों से बहुत ही जोर के साथ हो रहा है। इस प्रश्न का महत्व जर्मन लोगों को अब आज कल विशेष रूप से मालूम होने लगा है, यह सच है; परंतु बहुत वर्षों तक चुपचाप बैठे रहने से जो हानि हुई है उस हानि को पूरा करने का प्रयत्न और उत्साह जो वर्तमान काल में जर्मन लोगों में देखा जाता है, यह बड़े आनंद की बात है।

प्रजा की वृद्धि के प्रश्न पर विचार करते समय, कुछ साल पहले लोगों के ध्यान में यह बात आई कि बालकों की

उत्पत्ति की संख्या कई वर्षों से बराबर एकसी बनी हुई है। मृत्युसंख्या में कुछ कमी हुई अवश्य है, परंतु छोटे बालकों की मृत्युसंख्या में कुछ भी कमी नहीं हुई है। अतएव उसी समय से उन्होंने इस बात की जाँच का कार्य आरंभ कर दिया कि छोटी उमर में अधिक बालक क्यों मरते हैं। यदि गत वर्षों की संख्या देखी जाय, तो इस बात का पता सहज लग जायगा कि साठ लाख बालकों में से चार लाख से अधिक बालक बारह महीनों के अंदर मृत्यु के मुख में चले जाते हैं, अर्थात् २० फी सदी मनुष्यों का नाश हो जाता है। इसके पहले के सौ वर्षों में यह संख्या १५ थी। राष्ट्र की रक्षा लोगों के हाथ से ही होनी चाहिए, बाहरी सहायता का भरोसा करना धोखे का काम है। यदि यह बात उपरोक्त संख्या को देख कर जर्मन लोगों में भय उत्पन्न करे, तो आश्चर्य की कौन सी बात है।

छोटे बालकों की मृत्यु-संख्या कम करने के लिये अब प्रयत्न होने लगा है। प्रत्यक्ष प्रयोगों से थोड़े से समय में ही, ऐसा अनुभव प्राप्त हुआ है कि गत अनेक वर्षों से मनुष्यों की जो भयंकर हानि होती आ रही थी उसकी रोक के लिये उचित उपाय काम में लाए जाने चाहिएँ। जिन प्रांतों में अच्छी तरह ध्यान दिया गया है उन प्रांतों में मृत्युसंख्या बहुत कम हो गई है और यह बात अनुभव से पाई गई। इस पर से यह बात सिद्ध हो गई है कि अब तक पांच बालकों में जो एक बालक मर जाता था, वह लोगों की असावधानी, अज्ञानता, और ईश्वरी

इच्छा पर भरोसा रख कर रहनेवाले लोगों के कारण ही हो था। छोटे बालकों की कम उमर में मृत्यु हो, यह ईश्वरी इच्छा है; संसार में आश्यकता से अधिक मनुष्य न रहें, यह ईश्वरी इच्छा है, और इस इच्छा के अनुसार ईश्वर बालकों का संहार करता है, इस प्रकार के विचार जर्मन लोगों के पुराने विचार थे। परंतु ईश्वर की कृपा से अब ये विचार बिलकुल बदल गए हैं। ईश्वर जिस प्राणी को जन्म देता है उसका बाल्यावस्था में ही नाश हो जाय, यह उसकी कभी इच्छा नहीं होती। साल के भीतर जो बहुत से बालक कराल काल के गाल में चले जाते हैं उसका कारण माता पिता की असावधानी और शुद्ध और ताजा भोजन तथा स्वच्छ हवा पानी न मिलना ही समझना चाहिए। ऊपर बताई हुई ईश्वरीय इच्छा से उसका बिलकुल संबंध नहीं है यह तत्व अब सब लोग अच्छी तरह समझने लगे हैं।

इस राष्ट्रीय आपत्ति को दूर करने के लिये जर्मनी में अनेक प्रकार की संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं और इसके लिये अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। प्रयत्नों की दिशाएँ चाहे भिन्न भिन्न हों परंतु उन सबों का ध्येय एक ही है और उस ध्येय को साध्य करने के लिये जर्मन सम्राट् और सम्राज्ञी दोनों नेता बने हैं। बर्लिन की विमेंस पेट्रियाटिक असोसियेशन" (Women's Patriotic Association) को जर्मन सम्राट् ने १५ नवंबर सन् १९०४ के दिन एक पत्र लिख कर भेजा था, उसमें लिखा था—"कम उमर के बालकों की

आरोग्यता के लिये बहुत से लोगों को चिंता लगी रहती है, यह दशा बहुत सोचनीय है। इस दशा को सुधारने के लिये सरकारी अधिकारी और तुम्हारी संस्था के समान परोपकार करनेवाली संस्थाएँ जो प्रयत्न करती हैं उनका प्रयत्न सफल हो, यह हमारी हृदय से इच्छा है। तुम्हारे असोसियेशन की व्यवस्था बहुत अच्छी है। और इस काम पर सरकार ने जो लोग नियत किए हैं, उनकी सहायता से यदि तुम काम करने लगोगे तो इस राष्ट्रीय कार्य को सहज ही सफलता प्राप्त होगी; इस बात का मुझे पूर्ण विश्वास है।" उपरोक्त वाक्यों को पढ़ने से यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी कि जर्मन सम्राट् इस ओर कितना ध्यान रखते हैं।

सम्राट् के इस पत्र का कितना अच्छा परिणाम निकला यह बात स्वतः हम लोग आज कल देख रहे हैं। इस काम पर नियत किए हुए सरकारी अधिकारी, डाक्टर, म्युनिसिपलिटियाँ, और लोगों द्वारा स्थापित निज की संस्थाएँ, आदि मिलकर एक दिल से काम कर रही हैं और परस्पर सहायता करने के काम में किसी की ओर से टाल मटोल नहीं होती छोटे बालकों के लिये औषधालय, शुद्ध दूध मिलने की दूकानें, और उनकी सेवा शुश्रुषा का कार्य जानने के लिये व्याख्यानों का प्रबंध किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बालकों की रक्षा का काम उत्तमतापूर्वक हो सकता है उसी प्रकार के उपाय करने का प्रयत्न सरकारी और गैरसरकारी लोग यथाशक्ति करते रहते हैं।

परंतु इस कार्य का बाहरी स्वरूप चाहे कितना ही सुंदर हो

तो भी इस विषय के समाधान योग्य परिणाम अभी नहीं निकला है। बालकों की रक्षा का यथार्थ काम यदि कहीं हो सकता है तो घरों में माता की गोद में ही हो सकता है। बालकों की शारीरिक शक्ति की ओर यदि माता॰ ने दुर्लक्ष्य किया तो लोगों के सोचे हुए उपाय निष्फल हो जाने की ही बहुत अधिक संभावना है। इस विषय में यश प्राप्ति की कुंजी यदि किसी के पास है तो वह मां क पास है। इस बात को ध्यान में रखकर अनेक स्थानों की म्युनिसिपालि-टियों ने और सर्वसाधारण संस्थाओं ने इस विषय की ओर विशेष परिश्रम करने का कार्य आरंभ कर दिया है। बिलकुल छोटे बालक क जन्म होने से साल भर तक यदि बराबर अच्छी तरह खबरगीरी रक्खी जाय तो फिर आगे उतना भय नहीं रहता। आयु के पहले बारह महीने ही परीक्षा का समय है। ऊपर का दूध पीनेवाले बालकों की मृत्युसंख्या मां का दूध पीनेवाले बालकों की मृत्युसंख्या की अपेक्षा पांच छः गुनी अधिक होती है। अतएव माताओं को अपने बालकों को अपने स्तनों का ही दूध पिलाना चाहिए, यह प्रयत्न बराबर जारी है। परतु दुःख है कि जहाँ तहाँ यह फ़ैशन चल पड़ा है कि जहां तक हो अपने स्तनों से दूध न पिलाया जाय। यह प्रथा दक्षिण जर्मनी में बहुत फैल गई है। अनेक बेर की मर्दुमशुमारियों में बार्लिन में सरकार ने इस विषय की बहुत कुछ जाँच की है। इस जाँच से यह मालूम होता है कि सन् १८८५ में प्रति हजार में ५५२ बालक मां का दूध पीते थे और ३३१ गाय का दूध पीते थे। परंतु सन १८९५ में

यह संख्या ४३१ और ४५२ हो गई और सन १९०० में ३३५ और ५१७ हो गई। इस प्रकार पंद्रह वर्षों में मां का दूध पीनेवाले बालकों की संख्या $\frac{२}{३}$ से $\frac{१}{३}$ पर आ गई ! नीचे दिए हुए नक़श में बालकों के दूध पीने का जो विवरण दिया है उससे फी हजार मृत्युसंख्या का क्या परिणाम होता है, यह बात प्रगट होती है—

वर्ष	स्तन पान करनेवाले		ऊपर का दूध पीनेवाले		दोनों तरह से दूधपीने वाले	
	१ मास	२ मास	१ मास	२ मास	१ मास	२ मास
१८९०	२२·९	९·२६	१४७·९	७७·४	११५·०	८८·२
१८९१	२०·४५	७·५७	१७०·७	८९·४	१२८·०	५४·१५
१८९५	२५·१६	७·३०	११२·८	६२·९	८८·२	५०·९
१८९६	१९·४	७·४०	१११·०	५४·५	५४·२	३८·५

ऊपर के नक्शे में जो विवरण दिया हुआ है उसका परिचय कलोन नगर में खूब अच्छी तरह पाया जाता है। उस नगर में बालकों की मृत्युसंख्या बहुत पाई जाती है। वहां हजार स्त्रियों के पीछे ३९८ स्त्रियां अपने स्तनों से बालकों को दूध पिलाती हैं। इसके विपरीत सोलिंजन नगर की दशा है जहां मृत्युसंख्या बहुत कम है। वहां पर हजार स्त्रियों में ७०४ स्त्रियां अपने बच्चों को अपना दूध आप पिलाती हैं।

बहुत से बड़े बड़े नगरों में कुछ तो म्युनिसिपैलिटियों ने और कुछ सर्वसाधारण संस्थाओं ने बालकों के लिये औषधालय खोल दिए हैं। इन औषधालयों में छोटे छोटे बच्चों की चिकित्सा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। अकेले बर्लिन नगर में इस प्रकार के सात औषधालय हैं और ये औषधालय खास तौर पर मजदूरों के मुहल्लों में हैं। हर एक औषधालय में छोटे बालकों के रोगों की चिकित्सा संबंधी विशेष शिक्षाप्राप्त एक एक डाक्टर रहता है तथा उसकी देख रेख में और भी कई एक डाक्टर और दाइयाँ रहती हैं। चार्लटनबर्ग नगर में पांच औषधालय हैं। इन औषधालयों से लोगों को यथार्थ में लाभ पहुँचे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बहुत ही उत्तम प्रकार की व्यवस्था सरलतापूर्वक की गई है। इन औषधालयों का मुख्य उद्देश्य यह रक्खा गया है कि जिनके पास द्रव्य-बल नहीं है, जिन्हें दूसरों के दानधर्म पर ही अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ता है, अथवा जो दूसरों के बालकों का पालन पोषण करनेवाले हैं (Foster parents) उन्हें या व्यभिचार से उत्पन्न हुई संतान आदि को मुफ्त सलाह और सहायता प्रदान की जाय। प्रत्येक औषधालय में रोगी अथवा अशक्त बालक का पालन पोषण किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह बात जो माता-पिता नहीं समझते अथवा जिनके पास द्रव्य का साधन नहीं है, उनको इस कार्य में सहायता प्रदान की जाती है। अपने आप जो माता अपना दूध अपने बालक को पिलाना चाहे उसे भी धन द्वारा सहायता प्रदान

की जाती है और अन्य माताओं को शास्त्रीय ढंग से शुद्ध किया हुआ दूध मुफ्त अथवा कम मूल्य पर दिया जाता है। सहायता पाने के लिये माता की ओर से निवेदनपत्र आने पर पहले पहल इसी बात की जाँच की जाती है कि बालक अपने पिता से उत्पन्न हुआ है अथवा व्यभिचार से। यदि उसका बाप मौजूद है तो वह क्या व्यवसाय करता है। मां बाप की आमदनी क्या है? रहने का घर छोटा है या बड़ा है? उसका किराया क्या है? आरोग्यता की दृष्टि से उस मकान की स्थिति कैसी है? इन बातों की जांच कर लेने के पश्चात् यदि माता सहायता देने योग्य साबित हुई तो उसे मदद दी जाती है। अभी हाल की ही प्रकाशित एक रिपोर्ट से पाया जाता है कि इन औषधालयों से सहायता पानेवाले लोगों में अधिकांश मज़दूर लोग ही पाए जाते हैं, अर्थात् ऐसे मज़दूरों की जिनकी साप्ताहिक आमदनी बीस से लेकर तेईस शिलिंग तक होती है, संख्या बहुत है। औषधालयों का समाचार बाप समाचार पत्रों में पढ़ते हैं और जब बालक बीमार पड़ते हैं तब वे अपनी पत्नी को वहां सहायता पाने के लिये भेजते हैं। लेडी सुपरिंटेंडट, पुलिस की सहायता से सहायता पानेवालों को खोजकर उन्हें औषधालयों में जाने की उत्तेजना देती रहती हैं। इस प्रकार मजदूरों को औषधालयों का परिचय प्राप्त होकर लाभ मिलता रहता है। छोटे बालकों को पिलाने के लिये दूध औषधालयों में मुफ्त में या कम दाम लेकर दिया जाता है और अपने आप अपना दूध पिलानेवाली स्त्रियों

को पैसे दिए जाते हैं। इस कारण इस संस्था पर लोग बहुत प्रेम करने लगे हैं और जो सलाह डाक्टर लोग वहां लोगों को देते हैं वे उसे श्रद्धापूर्वक अक्षरशः मानते हैं। तो भी डाक्टरों की सलाह का पालन किया जाता है अथवा नहीं, यह जानने के लिये सेविकाएँ (Sisters) घर घर घूमती रहती हैं और इस बात की जांच करती रहती हैं कि घरों की स्थिति स्वास्थ्य के अनुकूल है अथवा नहीं, डाक्टरों की सलाह के मुताबिक बालकों की रक्षा का काम हो रहा है या नहीं; यह जान कर वे तुरंत उसका प्रबंध करती हैं। सेविका को घर ले आने पर भी, डाक्टर की सलाह के अनुसार काम करने पर भी माता को हर आठवें दिन औषधालय में ले जा कर बालकों को दिखाना ही पड़ता है। बर्लिन के मुख्य औषधालय के डाक्टर महीने में एक बार मजदूरों की स्त्रियों के सामने शिशुपालन पर प्रयोग दिखाकर व्याख्यान देते हैं।

बर्लिन के औषधालयों में, रोगी के रहने के लिये व्यवस्था नहीं है। हंबर्ग के औषधालय में ही सिर्फ यह व्यवस्था दस वर्ष से की गई है। साल में तीन हज़ार रोगी वहां औषधोपचार के लिये आ कर ठहरते हैं। चर्लोटनबर्ग में आसन्न-प्रसव स्त्रियों के चार सप्ताह रहने योग्य मकान बनाए गए हैं। इन घरों में चार सप्ताह तक आ कर रहनेवाली स्त्रियों को दूध और भोजन मुफ्त दिया जाता है। म्युनिच में एक अन्न का डिपो है। वहां यदि कोई स्त्री अपने छोटे बालक को लेकर जाय और उदर-निर्वाहार्थ अपने पास कोई साधन नहीं है, यह

बात प्रमाणित करने के लिये किसी योग्य अधिकारी का सार्टिफिकेट दिखावे तो उसे दोपहर का भोजन मुफ्त दिया जाता है। इस प्रकार के परोपकारी काम करने की सरकारी, गैरसरकारी, म्युनिसिपल और सर्वसाधारण संस्थाओं की जर्मनी में इतनी अधिकता है कि यदि उनका वर्णन यहां पर किया जाय तो ग्रंथ बढ़ जाने का बहुत भय है।

माता और छोटे छोटे बालकों को अच्छा दूध मिलना अत्यंत आवश्यक है। परंतु यह काम किस प्रकार हो सकता है, यह प्रश्न सहज ही सामने आ जाता है। जर्मनी की बहुत सी म्युनिसिपैलिटियों ने इस ओर ध्यान दिया है। यह काम पहले पुलिस विभाग के हाथ में था और यह परिपाटी जर्मनी में बहुत दिनों से चली आती थी। परंतु पुलिस से यह काम संतोषजनक नहीं होता था और जैसा चाहिए वैसा दूध गरीब लोगों को नहीं मिलता था। अतएव लोगों के निवेदन करने पर यह काम पुलिस के हाथ से निकाल कर म्युनिसिपैलिटियों के हाथ में दिया गया। इस कारण अब डाक्टरों द्वारा दूध की अच्छी तरह जाँच की जाकर शुद्ध और बिना मेल का खालिस दूध लोगों को मिलने लगा है। लोगों के निवेदन करने पर म्युनिसिपैलिटियों ने यह काम अपने हाथ में लिया और इस कारण खराब दूध मिलने की शिकायत बहुत कुछ कम हो गई है। कितनी ही म्युनिसिपैलिटियों ने तो दूध की दूकानें खोल दी हैं जहां उचित दामों पर शास्त्रीय ढंग से शुद्ध किया हुआ दूध बालकों और मजदूरों की स्त्रियों को मिलाता है। म्युसिसिपैलिटियों

का अनुकरण बहुत से बड़े बड़े कारखानों ने भी किया है। वहां से शुद्ध और खालिस दूध मजदूर लोगों को मिलता रहता है और इन कारखानों के दूध की खपत भी खूब होती है।

औषधालयों अथवा अन्य संस्थाओं में जानेवाले बालकों की, चाहे वे औरस हों अथवा अनौरस हों, सबों की शारीरिक व्यवस्था की ओर सर्वत्र पूरे तौर पर ध्यान दिया जाता है। परंतु अनौरस पुत्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। क्योंकि साल में जितने बालक औरस मरते हैं उससे दूने अनौरस मरते हैं। जर्मनी में प्रतिवर्ष करीब १७५००० बालक अनौरस उत्पन्न होते हैं। यह संख्या कुल जन-संख्या का ग्यारहवां भाग है। अनौरस पुत्र का बाप बनकर अपने पाप कर्म द्वारा उत्पन्न हुए बालक के पालन पोषण का भार उस पर डाला जाता है, परंतु यदि ऐसा न हुआ तो यथाशक्ति उसकी खोज की जाकर, उसे सामने लाने का प्रयत्न किया जाता है। यदि इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त हुई तो बालक उसके सपुर्द कर दिया जाता है। यदि पता न चला तो बालक के बड़े होने तक उसका पालन पोषण किया जाता है।

परंतु इतने से ही काम नहीं चलता। बालकों के निरोग रहने के लिये माता का स्वस्थ रहना ज़रूरी है। बालक उत्पन्न होते ही यदि उसकी विशेष खबरगीरी रक्खी जाय तो बहुधा वह अकाल मृत्यु से बच जाता है। परंतु इतने से ही काम पूरा नहीं होता। बालक के पेट में आते ही यदि माता के स्वास्थ्य

की ओर उचित ध्यान न दिया जाय तो उसका बुरा परिणाम हुए बिना नहीं रहता। और फिर यदि उसके स्वास्थ्य सुधारने का प्रयत्न किया जाय तो इतने ही से कोई विशेष लाभ नहीं होता और भी बहुत कुछ करना पड़ता है। गर्भिणी स्त्रियों से कारखानों में हलका काम लेना ही उचित है। बालक पैदा होने के दिन करीब आने पर तथा बालक पैदा होने के कुछ दिनों बाद तक स्त्रियों को आराम मिलना चाहिए, इसकी व्यवस्था इंडस्ट्रियल कोड में की गई है। परंतु कानून में जो नियम रक्खे गए हैं वे संकुचित होने के कारण जितना लाभ उनसे होना चाहिए नहीं होता। इंडस्ट्रियल कोड की १३७ वीं धारा में यह लिखा हुआ है कि जिन कारखानों और कलागृहों का मुआइना (Inspection) सरकारी तौर पर होता है वहाँ पर यदि किसी स्त्री के बालक पैदा हो तो उससे वहाँ चार सप्ताह तक कोई काम न लिया जाय। इसके आगे डाक्टर का सार्टिफिकेट देख कर काम देने की व्यवस्था की जाय और मजदूरों के "सिकफंड" में से छ महीने तक सहायता दी जाय। परंतु इस प्रकार की सहायता बालक पैदा होने से छ सप्ताह पहले देने तथा वह स्त्री काम करने के लिये असमर्थ है, इस व्यवस्था के करने का काम डाक्टर की राय पर छोड़ा गया है। इस नियम का पालन अभी जैसा होना चाहिए नहीं होता और इसी कारण जैसा लाभ पहुँचना चाहिए नहीं पहुँचता। अतएव इस नियम के चारों ओर प्रचार होने में और उसके पालन होने में जो कठिनाइयां हैं, उनको दूर करने का विचार सरकार कर रही है। परंतु इससे गर्भिणी

में जितने शास्त्रीय शोध हुए हैं उनका व्यवहार में किस प्रकार उपयोग किया जाना चाहिए, आदि बातों का ज्ञान भिन्न भिन्न संस्थाओं को करा देना ही इस मुख्य संस्था का काम है। बालकों की वृद्धि और रक्षा संबंधी जितनी संस्थाएँ जर्मनी में हैं उन सबों को साम्राज्ञी द्वारा स्थापित इस संस्था से बहुत सहायता प्राप्त होती है। उन्हें इस संस्था से शास्त्रीय ज्ञान सहज ही प्राप्त होता रहता है। इस इमारत की नींव रखते समय जर्मन सम्राट् ने यह सँदेसा भेजा था—"बालकों की वृद्धि के काम में आज तक जो दुर्लक्ष्य रहा है उसका इस संस्था द्वारा लोप हो जायगा और छोटे बालकों को जो हानि पहुंचती थी वह दूर हो जायगी। इतना ही नहीं, वरन नए नए शास्त्रीय शोध होकर बालकों के पालन पोषण का काम स्वाभाविक ढंग से होकर मनुष्य निर्माण करने का उचित उपाय क्या है, इसका भी निश्चय हो जायगा और यह होने से कुसमय कराल काल के गाल में जानेवाले बालकों की रक्षा हो सकेगी।" जर्मन सम्राट् के प्रोत्साहन द्वारा स्थापित इस संस्था की उपयुक्तता को ध्यान में रखकर मानवी सुधार के लिये इंद्रिय विज्ञान अथवा अन्य शास्त्रों को मनुष्य को अपने अधिकार में रखना चाहिए इस विषय में जर्मन लोगों का विचार बहुत दृढ़ हो गया है।

जर्मनी के बड़े बड़े शहरों में बड़े घरों की स्त्रियां अपना फ़ुरसत का समय, परोपकारी अथवा राष्ट्रीय कामों में लगाती हैं। इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ईश्वर ने उनको जितनी बुद्धि दी है उतनी ही वे संतुष्ट

न रह कर जितनी लोकसेवा वे कर सकती हैं करतीं हैं। इस उद्देश्यपूर्ति के लिये "प्रेपेरेटरी क्लासेज" खोले गए हैं जहां पर वे इस बात के लिये उपयोगी शास्त्रीय और वैद्यक संबंधी ज्ञान सम्पादन करती हैं। इसके अतिरिक्त "विमेंस पेट्रियाटिक सोसाइटी" के स्त्री सभासद् मजदूर स्त्रियों को बालक के पालन पोषण करने और अपनी घर गृहस्थी को व्यवस्थापूर्वक चलाने पर व्याख्यान देती हैं।

जर्मनी के वर्तमान समय की जन्म और मृत्यु संख्या का विवरण देखा जाय तो पता लग जाता है कि जन्म और मृत्यु संख्या में दिनों दिन कमी हो रही है। यदि जन्मसंख्या में आगे भी ऐसी ही कमी होती जाय तो भी उससे राष्ट्र में लोक संख्या की कमी नहीं हो सकती, क्योंकि इसी के साथ साथ मृत्युसंख्या भी तो कम होती जा रही है। ऐसी हालत में कुल मृत्युसंख्या में छोटे बालकों की मृत्यु संख्या यदि कम हो जाय तो इससे बिना लाभ हुए नहीं रहेगा। इंग्लैंड के संयुत-राज्य में फी सौ बालकों में, जितने बालक साल में मरते हैं उसकी अपेक्षा आठ नौ बालक अधिक जर्मनी में मरते हैं। यदि वर्तमान व्यवस्था से वर्तमान समय की हानि ही कम हो जाय तो लोक-संख्या की दृष्टि से जर्मनी का बहुत बड़ा कार्य सिद्ध हो जायगा।

परंतु भावी वंश की शारीरिक शक्ति बढ़ाने और उसका कल्याण करने के लिये जितनी खबरदारी ली जानी चाहिए उतनी खबरगीरी बाल्यावस्था से ही जर्मनी में ली जाती है। बालकों की उमर बढ़ने के

साथ साथ उनकी शारीरिक शक्ति बढ़ने की खबरदारी रखने के लिये भिन्न भिन्न "एजंसियाँ" स्थापित की गई हैं और उनके द्वारा पाठशाला जाने के पहले बालकों को खुली हवा में खेलने और खेलते खेलते बालोद्यान-शिक्षापद्धति द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। बालक जब से पाठशाला में जाने लगता है तब से उसकी शारीरिक व्यवस्था की जिम्मेदारी पाठशाला के अधिकारी पर जा पड़ती है और वे अधिकारी लोग अपनी ज़िम्मेदारी को समझ कर अपना काम बड़ी ईमानदारी से और ध्यानपूर्वक करते हैं। सात आठ वर्ष के बालक मैले कुचैले कपड़े पहने हुए और कभी नंगे उघारे फटे पुराने जूते पहने हुए समाचारपत्र अथवा बच्चों के खिलौने बेचते हुए लंदन की गलियों में पाए जाते हैं परंतु यह हालत जर्मनी में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ेगी। छोटी उमर में, इस प्रकार के व्यवसाय करने की कानून द्वारा वहां रोक की गई है और लोकमत भी ऐसी बातों के प्रतिकूल है। स्वयं माता पिता भी अपने अथवा अपने बालकों के पेटपालनार्थ, ऐसे काम बालकों से कभी नहीं लेते। बालक छ वर्ष का होते ही उसे पाठशाला में जाना ही चाहिए, ऐसा जर्मनी में नियम बना दिया गया है और इस नियम का पालन कड़ाई के साथ कराया जाता है। इंग्लैंड में इस बाबत कुछ टालमटोल की जाती है और इसी कारण बहुत से बालक पाठशाला छोड़कर ऊँचे नीचे काम करते हुए पाए जाते हैं। पाठशाला में जाते ही बालक की डाक्टरी जाँच होती है। जाँच होने पर यदि

वह निरोगी और सुदृढ़ हुआ तो पाठशाला में भर्ती कर लिया जाता है। जब तक बालक पाठशाला में पढ़ता रहता है तब तक बराबर डाक्टर की उस पर नज़र रहती है। कितने ही शहर तो इससे भी आगे निकल गए हैं। वहां पर तो आरंभिक पाठशालों में दंतवैद्यों, और कान व आंख की चिकित्सा करनेवाले डाक्टर लोगों को नियत किया गया है। बालकों को क्षय रोग न उत्पन्न हो, इस लिये, आज कल बहुत ध्यान रक्खा जाता है। युवा पुरुषों को यह रोग न हो जाय, इसका प्रबंध तो बहुत वर्ष हुए तभी किया गया था और इस प्रबंध का परिणाम भी संतोषजनक निकला है। परंतु उस समय बालकों की ओर किसी ने विशेष ध्यान दिया न था। इस आलस्य के कारण बालकों में जब यह रोग दिनों दिन फैलने लगा तभी से म्युनिसिपैलिटियों और सर्वसाधारण संस्थाओं का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। इस शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिये वहां बड़े बड़े प्रयत्न हो रहे हैं। क्षय रोग के लिये जो अस्पताल खोले गए हैं, उनमें बालकों के लिये खास तौर का प्रबंध किया गया है। यदि कोई शिक्षक क्षयरोग से पीड़ित हुआ तो उसे तुरंत पाठशाला से छुट्टी देकर समुद्र के किनारे अथवा इस बीमारी के लिये बने हुए अलग स्वास्थगृहों में ले जाकर रखते हैं। जर्मनी में बालकों को शराब के समान मादक द्रव्य सेवन करने की आदत पड़ी हुई है परंतु अब इसकी रोक के लिये कठिन नियम बनाए गए हैं। बालकों का नाम पाठशाला में लिखे जाते ही मादक द्रव्यों का सेवन करना बालकों के

कोमल शरीर को कितना हानि पहुंचाता है, यह बात बालकों के माता पिता को बताने के लिये छपी हुई "हिदायतें" उन को दी जाती हैं। उन हिदायतों के अनुसार व्यवहार करने का उद्योग बर्लिन शहर में आरंभ भी कर दिया गया है।

बालकपन अथवा युवावस्था में खुली हवा में खेलने का जैसा रिवाज इंग्लैंड में है वैसा जर्मनी में नहीं है। पाठशाला में जानेवाले बालक, अथवा इसी प्रकार कारखानों में काम करनेवाले बालक और बालिकाएँ हमेशा अपने काम में चिपटे रहते हैं। परंतु अब बालक और बलिकाओं के लिये खुली हवा में खेलने के उद्देश्य से जगह जगह पर व्यायामशालाएँ अथवा 'प्ले-ग्राउड्स" बना दिए गए हैं। मजदूरों के मुहल्लों के पास खुले मैदान इस काम के लिये छोड़ देने की म्युनिसि-पैलिटियों ने व्यवस्था की है।

छोटे बालकों की स्वास्थ्य-रक्षा और शारीरिक शक्ति बढ़ाने का जो वर्णन अब तक किया गया, उस काम में सबसे अधिक सहायता सोशियालिस्ट लोगों की ओर से प्राप्त हो रही है। राजनैतिक अथवा सामाजिक उन्नति के कामों की ओर सदा ये लोग ध्यान रखते हैं और देशोन्नति के कामों के लिये नई नई कल्पनाएँ सोच कर निकाला करते हैं। उनकी इन कल्पनाओं से समाज को लाभ ही पहुँचता है। अतएव उन्होंने इस ओर ध्यान दिया, यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त म्युनिसिपैलिटियों के कामों में और समाजहित के और जितने काम है, उन सबों की ओर उनका ध्यान लगा रहता है। यदि व्यवहारोपयोगी कोई नई कल्पना

किसी के मस्तिष्क से निकली है तो इन्ही लोगों के मस्तिष्क से, और यह एक अनुभवसिद्ध बात है। राष्ट्र की शारीरिक शक्ति की हर प्रकार से वृद्धि होने का जितना उपयोग सोशियालिस्ट लोगों की ओर से हुआ है उतना और किसी ओर से नहीं हुआ। सोशियालिस्ट पक्ष के नेताओं ने स्वतः परिश्रम करके और समाचारपत्रों की सहायता से जितना काम किया है उतना अन्य लोग नहीं कर पाए हैं और इस लिये उन लोगों का जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। इस संबंध में उनका प्रतिपादित मत और उनके हाथ से होनेवाला प्रत्यक्ष कार्य, इन दोनों में विलक्षण विरोध है। परंतु इस विरोध के कारण उनके द्वारा होनेवाली देशसेवा के मूल्य में जरा भी अंतर नहीं पड़ता, इस बात को स्वीकार करना पड़ता है।

मजदूरों की शारीरिक शक्ति बढ़ाकर उनके शरीर में विशेष कार्यक्षमता उत्पन्न करने के उद्देश्य से बीमा कंपनियों को स्थापित करने के लिये कानून बनाकर जर्मनी में भिन्न भिन्न संस्थाएँ और सार्वजनिक हित के लिये सर्वसाधारण द्वारा स्थापित संस्थाएँ कितना उत्कृष्ट काम कर रही हैं, यह बात पिछले किसी अध्याय में विस्तारपूर्वक बताई जा चुकी है। इस अध्याय में बालकों की शारीरिक शक्ति बढ़ाने का विवरण दिया गया है। इस प्रकार दोनों ओर जर्मनी में कैसा प्रयत्न हो रहा है, यह बात साफ मालूम हो जाती है। इस संबंध में जर्मन लोग कितना बड़ा राष्ट्रकार्य संपादन कर रहे हैं, यह बात ध्यान में आ जाती है! उद्योग युग के आरंभ में मजदूरों से कस कर काम लेने की प्रवृत्ति कारखाने

वालों और व्यापारियों में देखी जाती थी। उचित से अधिक समय तक काम करके कम मजदूरी का मिलना, गंदे स्थानों में बने हुए कारखाने और कलागृह, स्त्री और बालकों से उनकी शक्ति से अधिक काम लेना, मजदूरों के हर एक स्थान पर बने हुए घर में दुःखदायी बातें, अल्प औद्योगिक देशों में जैसी थीं वैसीही आरंभ में जर्मनी में भी पाई जाती थीं।

परंतु इन हानिकारक बातों को दूर करने का प्रबल प्रयत्न कर जर्मन लोगों ने उन्हें दूर हटा दिया है। इस ओर जितना ध्यान जर्मन लोगों ने दिया है उतना अन्य राष्ट्रों ने कभी नहीं दिया। सन् १८८१ के आरंभ से अर्थात् समाजसुधार के युग का आरंभ होने से इस ओर उन्होंने बहुत जोर के साथ अपना कार्य आरंभ किया। इसका परिणाम यह निकला कि मजदूरों की स्थिति बहुत ही अच्छी हो गई है। बीमा के कानून की बाबत, एक अधिकारी पुरुष ने यह कहा था "बीमा के कानून से तो विशेष लाभ हुआ वह यह कि "पुअर रिलीफ" के भरोसे पर न रहकर 'बीमा फंड' में स्वतः के पैसे देकर मजदूरों को आपत्काल में धन पाने का अधिकार उत्पन्न हो गया है। जर्मनी में जो यह व्यवस्था की गई है वह कभी बंद होगी, ऐसा मुझे नहीं विश्वास है। मजदूर लोग किए हुए उपकार को याद नहीं रक्खेंगे, यह कह कर सरकारी कानून को हँसनेवाले बहुत से लोग हैं परंतु उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि कोई भी सरकार केवल लोगों की कृतज्ञता

संपादन करने के लिये राज्य में कानून नहीं जारी करती है। इसके अतिरिक्त इन लोगों को यह भी सोचना चाहिए कि सन १८८१ में जो राजकीय घोषणा प्रसिद्ध हुई थी उसके बाद, यदि मजदूरों की स्थिति सुधारने का बिलकुल प्रयत्न न किया जाता तो क्या आज उद्योग-धंधों की वृद्धि हो कर मजदूर लोगों को संतुष्ट रखने का कार्य संपादन हो सकता था?"

इंग्लैंड के कल कारखानों के कानून की अपेक्षा जर्मनी में इन कानूनों में बहुत कुछ सरलता रक्खी गई है। उसके अनुसार छोटे बालकों के काम करने के घंटों में कमी की गई है। इतना ही नहीं, वरन उनका स्वास्थ्य ठीक रहे, काम करते समय उन्हें कष्ट न हो और न उनके जीवन पर कोई संकट आ उपस्थित हो, इन विषयों का भी कानून में जरूरत से ज्यादा ध्यान रक्खा गया है ऐसा बहुत से लोगों का आक्षेप भी है। पर आक्षेप करनेवाले बहुधा कारखानेवाले लोग ही हैं। वे समझते हैं कि मजदूरों को अधिक सुभीते देने से हम लोगों को आवश्यकता से अधिक धन खर्च करना पड़ता है। परंतु केवल अपने लाभ हानि को न देख कर यदि इस प्रश्न का दूर दृष्टि से विचार किया जाय तो पाया जाता है कि इस व्यवस्था से मजदूरों और कारखानेवालों दोनों का हित-साधन होता है, और इसीलिये सरकार ने मजदूरों के संरक्षणार्थ कानून बना दिया है और यदि आवश्यकता हो तो उसमें और भी सुधार करने के काम में भी सरकार आगा पीछा नहीं करेगी।

सत्रहवाँ अध्याय।

राष्ट्र का विस्तार।

फ्रैंच लोगों के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात जर्मनी ने पश्चिम की ओर अपनी सीमा कायम कर के यह निश्चय किया कि जर्मन राष्ट्र को जितने राज्य की आवश्यकता थी वह उसे प्राप्त हो चुका, उससे अधिक प्राप्ति की अब इच्छा न करनी चाहिए और संतोषपूर्वक देशोन्नति का कार्य संपादन करना चाहिए। प्रिंस बिस्मार्क के मतानुसार ही "फारिन मिनिस्टर" द्वारा पर-राष्ट्रों से व्यवहार होने लगा। जर्मन राष्ट्र का विकास होने से अन्य राष्ट्र उसे संशय की दृष्टि से देखने लगे। परंतु उनका संशय अथवा भय अस्थायी है, यह बताने के लिये ही प्रिंस बिस्मार्क ने बनावटी संतोषवृत्ति स्वीकार की, यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि देश में शांति स्थापित करने और जर्मन सीमा को दृढ़ बनाने अथवा जर्मन राष्ट्र को वैभवशाली करने के काम में अन्य राष्ट्र बीच में विघ्न उपस्थित न करें, बस यही जर्मन लोगों की इच्छा थी। इसके अतिरिक्त उन्हें और कोई इच्छा नहीं है, इस बात का उन्हें दृढ़ विश्वास था। जब तक प्रिंस बिस्मार्क के हाथ में जर्मनी का राजसूत्र रहा और वे अपनी जिम्मेदारी पर सब काम करते रहे तब तक जर्मनी का सब राष्ट्रों के साथ बिलकुल ऐसा ही व्यवहार बना रहा।

"सारे संसार पर आक्रमण करने की राजनीति" (World policy) ये शब्द बिस्मार्क के मुँह से निकलते हुए शायद ही किसीने सुने हों! परराष्ट्रीय राजनैतिक विषयों में नए स्नेह-भाव के उत्पन्न करने और पुराने झगड़ों को मिटाने में ही उन्होंने अपना बहुत सा समय खर्च किया। परंतु उस समय ये राजनैतिक मामले यूरोप के पाँच छ राष्ट्रों तक ही परिमित थे। क्योंकि यूरोप के बाहर यूरोपियन राष्ट्र-संघ विशेष ध्यान नहीं देते थे। जर्मनी के पास भी उपनिवेश हों, ऐसी इच्छा बिस्मार्क की न थी। परंतु सन् १८९० के आरंभ में, लोगों के बहुत आग्रह करने पर, इस विषय की ओर भी उन्होंने अपना मन लगाया और इस कार्य को संपादन करने के लिये जब उन्होंने समुद्र पार अपनी दृष्टि फेंकी तब उपनिवेशों को स्थापित करने की ओर उनका ध्यान गया। परंतु उनके राज्याधिकारारूढ़ रहने तक, इस कार्य को "वर्ल्ड पॉलिसी" का स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। परंतु यह कहने में कुछ हर्ज नहीं है कि जब उस कार्य को यह स्वरूप प्राप्त हुआ तब जर्मन राष्ट्र ने बिस्मार्क की राजनीति को एक ओर रख दिया।

आज कल की परराष्ट्र संबंधी नीति की कल्पना का स्वरूप ही भिन्न है। यूरोप की पुरानी कल्पना को यदि हम वर्तुलाकार मान लें तो यह कहना ही बहुत उचित होगा कि बिस्मार्क के समय में यूरोप खंड इस वर्तुल का केंद्र था परंतु अब वह उसके पृष्ठ भाग पर जा कर पहुँच गया है। यूरोपियन राष्ट्रों में विशेष महत्व का प्रश्न जो आकर उपस्थित

हुआ है वह पूर्वी राष्ट्रों और वहाँ के लोगों का भविष्यत् में कैसा स्वरूप होना चाहिए, यह है। पश्चिमीय यूरोप की लोकसंख्या पहले की अपेक्षा भौगोलिक और सांपत्तिक मर्यादा से अधिक बढ़ गई है। संसार के अन्य भागों में अपने यहाँ के बने हुए कारखानों का पक्का माल भेज कर, उसके बदले में वहाँ की कृषि पैदावार अनाज अपने यहाँ ले जाने का कार्य बड़ी तेजी के साथ हो रहा है। इस प्रकार क्रय विक्रय द्वारा बड़े पैमाने पर नए नए बाजारों को जिस तरह हस्तगत करने का प्रयत्न हो रहा है उसी प्रकार वहाँ पर बढ़ी हुई लोकसंख्या को भी स्थान मिलेगा इसमें संदेह ही क्या है! ये और इसी प्रकार के अन्य विचारों के कारण पुराने राजनैतिक सिद्धांतों को आज कल एक नया ही स्वरूप प्राप्त हो गया है और सूर्योन्नत राजनीति सारे संसार में व्यापक हो रही है। अतएव नवीन ढंग की राजनैतिक कल्पना को जर्मन लोगों ने जो स्वीकार किया वह भी अनिवार्य दैवी इच्छानुसार ही हुआ है, यही कहना चाहिए।

आज कल सारे संसार में व्यापक राजनीति को जिसे जर्मन भाषा में "वेल्ट-पालिटिक" (Welt-Politik) कहते हैं, जर्मनी ने केवल राजकीय उद्देश्य से स्वीकार किया है, यह बात अन्य देश के राजनीति-विशारदों को मालूम हो, यह एक स्वाभाविक बात है। यूरोप के भिन्न भिन्न राष्ट्रों की शक्ति से, आज कल जो एक प्रकार की समान शक्ति (Balance of Power) का भाव पैदा हो गया है उसे तोड़ डालना अथवा नष्ट कर देना ही जर्मनी का मुख्य उद्देश्य है। इस

उद्देश्य की पूर्ति होते ही राज्य-विस्तार की ओर जर्मनों का ध्यान आकर्षित होगा, ऐसा अन्य यूरोपीय राष्ट्र कहते हैं और अपनी इस कल्पना को सच्चा समझ कर वे यह बात सिद्ध करते हैं कि उपनिवेशों की वर्त्तमान व्यवस्था जर्मन लोगों को उचित नहीं जान पड़ती और उसमें फेर फार करने का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया है। परंतु इन सब बातों पर विचार करने का यह समय नहीं है। जर्मनी की सच्ची स्थिति क्या है, इसका सरलतापूर्वक विचार करने से ही उस देश की [illegible] स्थिति आँखों के सामने आ खड़ी होती है। उसका सच्चा स्वरूप ध्यान में आते ही उन्हें यह विश्वास होने लगता है कि अपना अधिकार संसार के अन्य भागों पर अवश्य होना चाहिए। जर्मन लोगों को जो यह [illegible] लगी है, [illegible] मुख्य कारण उनकी सांपत्तिक स्थिति है। नीचे दिए हुए नकशे को देखने से यह पता लग जाता है कि सन् १८७१ से १९०७ तक जर्मनी में लोकसंख्या किस प्रकार से बढ़ती गई।

वर्ष	लोक संख्या	बढ़ती हुई संख्या	प्रति सैकड़ा
१८७०	४,०८,१८,०००	....	....
१८७५	४,२७,२९,०००	१९,११,०००	४.७
१८८०	४,५२,३६,०००	२५,०७,०००	५.९
१८८५	४,६५,५८,०००	१६,२२,०००	३.६
१८९०	४,९४,२८,०००	२५,७०,०००	५.५
१८९५	५,२२,८०,०००	२८,५२,०००	५.८
१९००	५,६३,६७,०००	४०,८७,०००	७.८
१९०५	६,०६,४१,०००	४२,७४,०००	७.६
१९०७	६,१६,९७,०००	१०,५६,०००	....

इस बढ़ती हुई लोक संख्या ने जर्मनी में बड़ी चिंता उत्पन्न कर दी। जर्मनी को शांत-वृत्ति धारण करना चाहिए यही बिस्मार्क ने उपदेश दिया था। अतएव उसी नीति का अवलंबन करते हुए, दूसरे देशों की ओर बिना आंख उठाए ही अपने देश की उन्नति करते हुए उनकी लोकसंख्या दो करोड़ बढ़ गई। वर्तमान समय में भी प्रति वर्ष ८ लाख से अधिक जर्मनी में आबादी बढ़ जाती है। मृत्युसंख्या और खास कर छोटे बालकों की मृत्युसंख्या धीरे धीरे कम हो रही है अतएव थोड़े दिनों में ही यह संख्या प्रति वर्ष दस लाख तक पहुँच जायगी। एक जर्मन अधिकारी ने तो यहां तक कह डाला है कि सन १९२५ में जर्मनी की लोकसंख्या ८ करोड़ तक पहुँच जायगी। अर्थात् जिस समय प्रिंस बिस्मार्क ने राज्य विस्तार न करने का उपदेश दिया था तब से यह संख्या दूनी से अधिक हो जायगी। उसने यह भविष्य डरते डरते बहुत कम कहा है, क्योंकि ऊपर दिए हुए विवरण को देखने से यही बात प्रतीत होती है।

उपरोक्त दशा को ध्यान में रख कर अब जो प्रश्न उपस्थित होता है उसका स्वरूप भौतिक और सांपत्तिक है। इतने लोगों को रहने के लिये स्थान कहां से आए? उनको कौन सा व्यवसाय दिया जाय? और उनके पेट पालनार्थ कौन सी व्यवस्था की जाय?

जर्मनी की लोकसंख्या प्रति वर्ष बेहद बढ़ रही है। उसकी यह वृद्धि इंग्लैंड के संयुक्तराज्य, आस्ट्रिया-हंगेरी, इटली और फ्रांस, इन सब देशों की लोकसंख्या की वृद्धि के

लगभग बराबर है। इतने लोगों का जीवित रह कर उनका जीवन उनके शारीरिक श्रम द्वारा चरितार्थ होना चाहिए। जन्म के साथ ही बालकों का गला घोंट कर मार तो डाला नहीं जा सकता! यदि आगे भी इसी प्रकार शीघ्रता के साथ जर्मनी की लोकसंख्या बढ़ती जायगी तो जर्मनी को उसकी व्यवस्था करने के लिये केवल दो मार्ग हैं। पहला मार्ग व्यवसाय वाणिज्य को शीघ्रता के साथ बढ़ाना और दूसरा मार्ग लोगों को देश त्याग कर बाहर जाने को कहना है। सब प्रकार से वर्त्तमान दशा को देखते हुए व्यावहारिक दृष्टि से यह दूसरा मार्ग ही लोगों के सामने उपस्थित करना पड़ता है। जर्मन राष्ट्र के जीवन काल में ये कठिनाइयां आ कर उपस्थित हो गई हैं—"संतति की वृद्धि, मर्यादित देश, प्राकृतिक पदार्थों की कमी, भिन्न भिन्न प्रकार की आबोहवा, मजदूरी पर निर्वाह करनेवाले लाखों लोगों के पेट पालने की व्यवस्था करने की अयोग्यता।" इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये भी केवल दो मार्ग हैं—(१) पड़ोसी प्रांत अथवा सीमा पर समुद्र को पाट कर नई जर्मनी स्थापित करना, और जिन लोगों को पुरानी जर्मनी में पेट भर खाने को नहीं मिलता उनके लिये वहां उचित व्यवस्था कर देना। अथवा (२) यदि यह संभव न हो और लोगों को देश में रहने के लिये ही बाध्य होकर उद्योग धंधों द्वारा अपना निर्वाह करना पड़े तो जर्मन कारखानों का तैयार किया हुआ माल विदेश भेज कर उसके बदले में अन्य देशों से अनाज लाकर पेट भरने का उपाय करना। किसी देश में प्रजोत्पत्ति विपुल

हो कर भौतिक मर्यादा के बाहर वृद्धि होने से उस देश की जैसी कठिन अवस्था हो जाती है वैसी ही कठिन अवस्था इस समय जर्मनी की हो गई है।

वर्त्तमान समय की अपेक्षा, देश में लोगों का पेट भरने के लिये अधिक अनाज पैदा किया जा सकता है तो भी उससे सब लोगों का उदर-निर्वाह नहीं हो सकता। सरकार कृषि की उन्नति के लिये कानून कायदे बनावेगी। संरक्षक कर नीति की व्यवस्था करके कृत्रिम उपायों से अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी में अनाज का भाव बढ़ा देगी, परंतु इतने से ही अनाज की बढ़ती हुई मांग का पूरा होना बहुत कठिन है। एक पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि जब तक किसानों की कठिनाइयां बनी हुई हैं तब तक थोड़ा खर्च करके खेती का व्यवसाय करना जर्मनी में संभव नहीं है, और रूस अथवा अर्जेंटाइन में कम खर्च करके खेती करनेवालों के मुक़ाबले में जर्मनी के कृषक ठहर नहीं सकते। बहुत हुआ तो कुछ दिनों के लिये देश के देश में ही अनाज इकट्ठा करने का प्रबंध किया जा सकता है। चाहे कुछ भी हो अंत में उन्हें विदेश से अन्न लाना ही पड़ेगा। परंतु इसमें भी एक कठिनाई है। विदेशी अनाज पर संरक्षक कर लगा देने से लोगों को सस्ते भाव पर माल नहीं मिलेगा, और यदि यह कर उठा दिया जाय तो देश में सस्ता अनाज तो बिकने लगेगा, परंतु जर्मन लोग उस सस्ते अनाज के मुकाबले में अपने अनाज का उचित मूल्य न पा सकेंगे, और इस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिये लोग खेती करना छोड़ कर उद्योग धंधों की ओर अपना मन लगावेंगे।

प्रति वर्ष की बढ़ती हुई लोकसंख्या को यदि कृषि के आश्रय से जीवन व्यतीत करते न बने तो व्यवसाय और व्यापार की उन्नति करके परिश्रम द्वारा लोगों को पेट भरने का मार्ग विस्तीर्ण कर देना चाहिए। इसके अलावा, और कोई उपाय नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि लोगों को उत्कृष्ट ढंग की खेती करने का ध्येय परित्याग कर देना चाहिए। परंतु यदि जर्मन लोगों को ऐसा करना पड़ा तो प्रति वर्ष दस लाख बढ़ती हुई आबादी को रहने के लिये जगह कहां से प्राप्त होगी? आज कल जर्मनी में प्रति वर्ग मील जमीन में तीन सौ मनुष्य वास करते हैं. इससे पहले सन् १८०७ में यह संख्या दो सौ थी। इंग्लैंड और बेलजियम के समान वाणिज्य और व्यवसाय में उन्नतिशील राज्यों की आवादी प्रति वर्ग मील ६०० है। स्वयं जर्मनी के भी कई प्रांतों में यह संख्या तीन सौ से कहीं अधिक पाई जाती है। सॉक्सेनी, हाइनलैंड और वेस्टफालिया में प्रति वर्ग मील आबादी ७८०, ६२०, ४६२ है। यह आबादी उन्हीं प्रांतों की है जहां उद्योग धंधों का जोर है। परंतु सारे देश का विचार करने से इस आबादी का परता कुछ विशेष अधिक नहीं है।

उद्योग धंधों की उन्नति के साथ ही साथ विदेशी बाजार भी हाथ में आना चाहिए, और जितना अनाज बाहर से खरीदा जावे उतना ही माल तैयार करके बाहर भेजने की व्यवस्था होनी चाहिए। केवल माल तैयार करने की व्यवस्था कर देने से ही काम नहीं चलता। उस माल को बेच कर धन प्राप्त करने का भी प्रबंध होना चाहिए।

परंतु वे राष्ट्र जो व्यवसाय वाणिज्य में फँसे हुए थे जर्मनी की वाणिज्य व्यवसाय संबंधी नीति और व्यवस्था को देख कर अपने भावी कार्य-क्षेत्र को ठीक ठाक बनाए रखने की चिंता में लीन होगए हैं। वे सोचने लगे हैं कि संसार के बाजार में अब जर्मनी से मुकाबला किए बिना काम न चलेगा। कोई भी व्यापारी अपने स्वतः के लाभ के लिये अपना व्यापार बहुत दूर तक फैलाकर यथा संभव उससे लाभ उठाता है परंतु यदि सारे राष्ट्र को लाभ पहुँचाना हो तो फिर तो हजारों लोगों को दूर दूर देशों में जाकर वहां के बाजारों में अपना प्रभाव जमाना ही चाहिए, और ऐसा करने में ही वह राष्ट्र जीवित रह सकता है। अतएव जर्मन राष्ट्र में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होना प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों को भयानक प्रतीत हो तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है!

अब दूसरा मार्ग है देशत्याग। यह मार्ग विशेष श्रेयस्कर है, यह बात जर्मन लोग जानते हैं। परंतु इस मार्ग में जर्मनी के सामने बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। क्योंकि उपनिवेश संबंधी मामलों में जर्मन राष्ट्र बहुत पीछे अन्य राष्ट्रों के साथ शामिल हुआ है। और जो उपनिवेश उसके अधिकार में हैं उनमें से बहुत से ऐसे हैं जहाँ यूरोपियन लोग निवास नहीं कर सकते। ब्रिटिश राज्य के कनाडा और आस्ट्रेलिया के समान उपनिवेश जर्मनी में एक भी नहीं है। जर्मन उपनिवेश, जर्मन सम्राट् के संरक्षण और अधिकार के देश (Protecterotes and dependencies) कहलाते हैं। वहाँ के सारे राज्य-सूत्र और राज्याधिकार सम्राट् द्वारा नियत

किए हुए मनुष्य के हाथ में रहते हैं। जर्मन लोगों का वहाँ स्थायी रूप से जाकर रहना कठिन काम है। क्योंकि वहाँ की आबोहवा गरम और उनके अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त वहीं के मजदूरों को काम पर लगा कर बाग बगीचा करने योग्य काफ़ी ज़मीन भी नहीं है। हाँ, यदि कहीं उनके काम लायक जगह है तो नैर्ऋत्य अफ्रीका में। वहाँ डमारालैंड और नॉमालैंड (Damaraland and Nomaland) में बहुत सी जमीन उपजाऊ पाई जाती है, और आबोहवा भी सम-शीतोष्ण होने के कारण वहाँ पर जर्मन लोगों को जा कर बसने में बहुत सुभीता है। दक्षिण अफ्रीका की केप-कॉलोनी में जितने लोग जाकर बस सकते हैं उतने ही लोग नैर्ऋत्य अफ्रीका में जाकर आबाद हो सकते हैं। जर्मन कालोनियल सेक्रेटरी ने भी इस संबंध में अपना अनुकूल मत प्रकट किया है। परंतु वहां खनिज संपत्ति कितनी है और कौन कौन सी है इसका विवरण जाने बिना उपरोक्त मत ठीक है या नहीं यह बताना कठिन है। अतएव जर्मन लोगों को अधिकता के साथ उपनिवेशों में जाकर वास करना कुछ अधिक सुखकर कार्य नहीं प्रतीत होता। इसका परिणाम यह होता है कि जो जर्मन लोग देश छोड़ विदेश जाते हैं उनको अपने देश को अंतिम राम राम करके जाना पड़ता है, और इस प्रकार कार्य होने से जर्मनी को उलटी हानि ही उठानी पड़ती है। सन् १८७६ से सन् १९०६ तक अर्थात् तीस वर्षों में साढ़े बाइस लाख जर्मन देश छोड़ कर विदेश चले गए। इनमें से बहुतों ने परराज्य और खास कर संयुक्त राज्य

अमेरिका में जाकर अपना घर बनाया। सन् १८८७ से १९०६ तक जो जर्मन लोग विदेश चले गए वे नीचे लिखे राज्यों में जाकर आबाद हुए।

संयुक्त राज्य अमेरिका	१०,०७,५४१
ब्रेजील	२४,०७२
अमेरिका के अन्य प्रांत	३६,१८४
आस्ट्रेलिया	५३९०
अफ्रीका	९६९८
एशिया	२२३३
कुल	१०८५११८

इतने लोगों का देश छोड़ कर चला जाना राष्ट्र के लिये कितना हानिकारक है, यह बात सब जर्मन देशहितैषी लोग जानते हैं। इस दुखद और शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिये उपनिवेशों को बसाना ही चाहिए, यदि यह विचार जर्मन लोग करने लगे हैं तो उस देश के लोगों को इस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना चाहिए। सन १९०८ के पहले ६ वर्षों में विदेश जानेवालों की संख्या में कमी हुई है अर्थात् ६ वर्ष में केवल २० हजार मनुष्य विदेश गए परंतु बीस वर्ष पहले यह संख्या प्रति वर्ष एक लाख से अधिक थी और इससे भी कुछ दिन पहले यह संख्या प्रति वर्ष दो लाख से भी अधिक थी। परंतु पुनः यह प्रवाह फिर न बहेगा, यह इस समय कौन कह सकता है?

परंतु केवल यूरोप में ही जर्मन राष्ट्र की सीमा बढ़ाने

से, जर्मनी पर आया हुआ यह संकट टल जायगा, यह संभव नहीं है। जर्मनी में एक भाव यह भी पैदा हो गया है कि संसार भर में फैले हुए जर्मन लोग जर्मन सम्राट् के अधिकार में होने चाहिएं और इस आंदोलन को 'पान-जर्मनिक' आंदोलन कहते हैं। परंतु इस आंदोलन का ध्येय सामने रखकर परिणाम कुछ भी हो परंतु यह बात स्पष्ट है कि बढ़ती लोकसंख्या की कठिनाई जो आकर उपस्थित हुई है, वह इस आंदोलन से दूर नहीं हो सकती। हां, इस समय यह कल्पना अवश्य की जा सकती है कि आस्ट्रो-हंगेरियन राज्य में जर्मन भाषाभाषी जितने लोग हैं, वे उस राज्य की अपेक्षा अधिकतर उत्तरी राज्य (जर्मनी) से आकर सम्मिलित हो सकेंगे। परंतु संयुक्त राज्य अमेरिका तो दूर की बात है, पड़ोसी स्विट्जरलेंड में जाकर बसे हुए जर्मन भी पुनः अपने देश में आकर रहेंगे अथवा नहीं इसमें भी संदेह है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धांत के अनुसार राज्य विस्तार करने में आबादी का प्रश्न जो हाथ धोकर पीछे पड़ा हुआ है, उससे छुटकारा कैसे होगा? और जो सांपतिक कठिनाइयाँ इस समय आकर उपस्थित हुई हैं, उनका निपटारा कैसे किया जा सकेगा?

दक्षिण ब्रेज़िल में जो "जर्मन सेटलमेंट" है उसी प्रकार की सम शीतोष्ण आबोहवा में जर्मन लोगों को अपने आधीनस्थ अफ्रीका प्रदेश में "सेटलमेंट" स्थापित करना चाहिए। यह कल्पना अब जर्मनों में विशेष जोर पकड़ती जाती है और इस कल्पना के अनुसार कार्य आरंभ होते ही जर्मनी का प्रभाव, कर्तृत्व शक्ति, और व्यापार का प्रसार वहां पर

शीघ्रता के साथ होने लगेगा। एक जर्मन लेखक ने लिखा है कि—"समुद्र पार का यदि कोई देश किसी राष्ट्र के अधिकार में आ जावे और उस देश में अपने यहां की अधिक आबादी को आश्रय प्राप्त हो जाय तो इतने से ही कार्य सिद्ध हो गया यह समझना भूल है। क्योंकि ऐसे देश के केवल अधिकार में आ जाने से ही उस राष्ट्र की शक्ति नहीं बढ़ जाती। आस्ट्रेलिया, केनेडा और दक्षिण अफ्रीका आदि उपनिवेशों के अंगरेजों के अधिकार में होने से ही अथवा इंग्लैंड से गए हुए हजारों लोगों के वहां बस जाने से ही, इंग्लैंड की शक्ति नहीं बढ़ गई। तो फिर इंग्लैंड की शक्ति किस तरह पर बढ़ी? उस देश में व्यापार करके इंग्लैंड ने अपनी सांपतिक शक्ति को बढ़ाया और उस सांपतिक शक्ति की सहायता से अपने शत्रु से बचाव करने की शक्ति प्राप्त की। जिन उपनिवेशों से यह लाभ प्राप्त नहीं होता वे उपनिवेश नीचे दर्जे के हैं और जिस देश से मुख्य राष्ट्र को इस प्रकार का लाभ अथवा महत्व प्राप्त नहीं होता उस देश को "उपनिवेश" नाम देना ही उचित नहीं है। परंतु यह बात अवश्य है कि उन देशों से भी जो कार्य निकलता है वह उपनिवेशों के कार्य की बराबरी का होता है, यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए।"

वर्तमान समय में जर्मनी की दृष्टि ब्रेजिल, आरजेंटाइन और एशिया-माइनर इन तीन देशों की ओर है। इन तीन देशों में जर्मन व्यापार को कितना यश प्राप्त होगा यह बात भविष्यत् के गर्भ में छिपी हुई है। अतएव यहां उस विषय पर वाद

विवाद करने से कुछ लाभ नहीं है। व्यापार को किसी नई जगह पर जमाना कितना कठिन है, यह जर्मन लोग जानते हैं। बगदाद रेलवे तैयार होते ही नए बाजार की कुंजी अपने हाथ में आजायगी और फिर शीघ्रतापूर्वक अपना व्यापार वहां फैल जायगा, इस बात का जर्मन लोगों को बहुत विश्वास है। उनकी यह कल्पना छिपी हुई अथवा अज्ञात नहीं है। एक जर्मन लेखक ने तो इस विषय में यहां तक लिख दिया है कि—"टर्किश एशिया में, जर्मनी को भविष्यत् में बहुत कुछ लाभ प्राप्त होना संभव है। अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के समान, टर्की के यूरोप, एशिया- और अफ्रीका के राज्यों के टुकड़े टुकड़े कर डालने का इरादा जर्मनों का नहीं है। टर्की राज्य की एक हाथ भर भी जमीन हमें नहीं चाहिए। हम तो केवल यही चाहते हैं कि एशिया माइनर में हमारे लिये व्यापार का बाजार खुला रहे, हम अपने उद्योग धंधों की उन्नति के लिये वहां से कच्चा माल ला सकें और हमारे देश का बना हुआ माल वहां के बाजारों में बराबर बिकता रहे। परंतु इसी के साथ हम यह भी नहीं चाहते कि अन्य राष्ट्रों को वहां पर व्यापार करने को रोक टोक की जाय, वरन् हम तो यह चाहते हैं कि हमारे ही समान अन्य राष्ट्रों के लिये भी वहां मुक्त वाणिज्य के सिद्धांत का प्रचार बना रहे।" परंतु इस विषय में जर्मन व्यापारी-मंडल की क्या राय है, यह भी जान लेना चाहिए। "कलोन गजट" में इस संबंध एक बार यह प्रकाशित हुआ था—"बगदाद रेलवे का अर्थ टर्की की दृष्टि

से तो यह है कि अन्य राष्ट्रों के व्यापार के लिये अपना एक प्रांत खोल देना और जर्मन दृष्टि से उसका अर्थ यह है कि जर्मन मूल धन और व्यापार को एक नया क्षेत्र प्राप्त होना और वहां अपनी योग्यता का लोगों को परिचय देना। जर्मन व्यापारियों ने बगदाद रेलवे तैयार करने के लिये अंग्रेज और फ्रेंच व्यापारियों से बहुत कुछ सहायता चाही परंतु उन्हें इस कार्य में यश प्राप्त नहीं हुआ। दूसरे देश के लाभ को हानि पहुँचेगी, यह तर्क उपस्थित करके एशिया-माइनर से अपना हाथ खींच कर जर्मनों पर इसका वार डालना हास्य-जनक बात है। जर्मन माल को विदेश में खपाना, और इसके लिये बाजार ढूँढ निकालना यह काम जर्मनी ने संसार के अन्य देशों में भी अब तक किया है और टर्की में भी वह जो कुछ काम करना चाहती है वह इतना ही है।" इसके बाद २४ मार्च सन् १९०८ को स्टेट सेक्रेटरी वान शून ने राइशटैग में यह कहा था—"जर्मन लोगों ने बगदाद रेलवे बनाने का जो कार्य हाथ में लिया उसमें बहुत सा धन खर्च हो गया। अतएव जिस जिस प्रांत से होकर वह रेलवे जायगी उस उस प्रांत का व्यापार जर्मन लोगों के हाथ में रहेगा, इस बात का मुझे पूरा भरोसा है। परंतु रेलवे के कारण को सम्मुख रख कर उस उस प्रांत में राजनैतिक कार्यों का आरंभ करना अथवा भविष्यत् में उसे अपना उपनिवेश बनाना, यह आक्षेप जो लोग जर्मनी पर करते हैं, यह केवल उन लोगों के मन की कल्पना मात्र है।"

ऊपर जो अवतरण बगदाद रेलवे के संबंध में दिए

गए हैं, उनसे बगदाद रेलवे का स्वरूप क्या है, यह बात पाठकों के ध्यान में आ गई होगी। परंतु इस विषय में एक प्रश्न हमारी समझ में और आता है जिसकी ओर जर्मन राजनीतिज्ञों को अवश्य ध्यान देना चाहिए। वह प्रश्न एक जर्मन सज्जन के कल्पनानुसार यह है कि सुकाल के समय इस नवीन रेलवे द्वारा एक टन (२८ मन) अनाज चार पौंड पांच शिलिंग के भाव से जर्मनी में आकर पहुँचेगा। अतएव अनाज की इस आमद का जर्मन किसानों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? व्यवसाय वाणिज्य और कृषि कार्य में जो विरोध वर्तमान समय में मौजूद है क्या इस कार्य से यह विरोध और अधिक न बढ़ेगा ? हमारी दृष्टि में यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। परंतु इस प्रश्न का निर्णय करना जर्मन राजनैतिक पुरुषों का काम है, हमें इस प्रश्न पर विचार करने से कोई लाभ नहीं है।

एशिया-माइनर अथवा संसार के अन्य भागों में इस पद्धति द्वारा केवल व्यापार के लिये यदि जर्मनी ने प्रयत्न किया तो उसके साथ किसी दूसरे देश का विरोध करने अथवा विपरीति विचार उत्पन्न होने का कोई भय न रह जायगा। यदि स्पर्धा होगी तो केवल परस्पर के बुद्धिबल, व्यापार संबंधी उत्साह और साधनों की अनुकूलता के संबंध में। संसार के सब राष्ट्रों ने व्यापार के संबंध में "मुक्त द्वार" के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है, और इससे प्रत्येक राष्ट्र को व्यापार से बहुत लाभ पहुँचा है। इंग्लैंड के समान ही व्यापार द्वारा धन प्राप्त करने का अवसर अन्य राष्ट्रों को भी

मिला है। जर्मनी ने यदि इंग्लैंड का यह सिद्धांत स्वीकार भी किया तो उपरोक्त बताई हुई स्पर्धा से परस्पर विरोध बढ़ने का कोई विशेष कारण नहीं समझ पड़ता। सन् १९०७ में इंग्लैंड के समाचारपत्रों के संपादक बर्लिन गए थे। वहां एक सभा में बृटिश सरकार और बृटिश लोगों को लक्ष्य करके विदेशी विभाग के अंडर सेक्रेटरी ने जो वक्तृता दी थी उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा था कि अन्य राष्ट्रों के समान ही "मुक्तद्वार" की पद्धति जर्मन सरकार को भी पसंद है। इस आयोजन से परस्पर व्यापार संबंधी अहंभाव तो नष्ट न होगा, परंतु हां, आपस का विरोध बहुत कुछ मिट जायगा।

ऊपर बताए हुए "वेल्ट पालिटिक" का एक और भी प्रभाव पड़ेगा, जिसका विचार अभी नहीं किया गया क्योंकि इस बात का इंग्लैंड से बहुत निकट संबंध है। जर्मनी की बढ़ती हुई आबादी के लिये यदि नवीन बाजार की आवश्यकता है तो उसी के साथ सामुद्रिक शक्ति बढ़ाना भी उसके लिये अनिवार्य है क्योंकि इसीकी उन्नति से बिना रोक टोक समुद्र पार के देशों के साथ व्यापार किया जा सकता है। इतना ही नहीं जब जब जर्मनों को विदेशी अनाज की आवश्यकता होगी तब तब सामुद्रिक शक्ति की सहायता से जर्मनी में विदेश से अनाज आसकता है और उससे जर्मनों का पेट पालन हो सकता है। "वेल्ट पालिटिक" का जर्मन लोगों में एक सिद्धांत और है। वह यह है कि जर्मनी में भिन्न भिन्न राजपक्ष हैं और उन में आपस में कलह भी खूब होती है। परंतु समुद्र पार जर्मन

राज्याधिकार बढ़ना चाहिए, इस विषय में सब पक्ष के लोगों का राष्ट्रीय दृष्टि से एक मत है, यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए।

समुद्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में जर्मन राष्ट्र के दो उद्देश्य हैं। पहला व्यापारिक और दूसरा राजनैतिक। पहले उद्देश्य के संबंध में डाक्टर पालसन ने लिखा है कि—"यूरोप के बाहर यूरोपियन राष्ट्रों का विस्तार करने के काम में जर्मनी बहुत प्रयत्नशील हो रही है। वहां के कारखानों में बेहिसाब माल तैयार होने लगा है और विदेशों में उसका व्यापार बढ़ रहा है। समुद्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना और अन्य राष्ट्रों द्वारा उस प्रभुत्व को नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न करना, इस ओर जर्मन राष्ट्र का चित्त आकर्षित हुआ है। व्यापार और व्यवसाय में जर्मनी ने अपने को दूसरे नंबर पर लाकर खड़ा कर दिया है। इंग्लैंड का नंबर ही उसके ऊपर है। परंतु पहले और दूसरे नंबर में बहुत कुछ अंतर नहीं है और जो कुछ थोड़ा बहुत अंतर रह गया है वह भी धीरे धीरे कम हो रहा है। अपनी इस स्थिति को बनाए रखने के लिये समुद्री सैनिक शक्ति को बढ़ाने के उद्योग में ही सारे राष्ट्रों का ध्यान आज कल आकर्षित रहता है।

ऊपर जो दूसरा राजनैतिक उद्देश्य बताया गया है उस का भी स्पष्टीकरण एक ग्रंथकार ने इस प्रकार किया है—"जो राष्ट्र हमसे आगे हैं उनके मुकाबले में पहुँचना अथवा जो स्थान हमने खो दिया है उसे प्राप्त करना, यह कार्य सब

राष्ट्रों को मिल कर करना चाहिए अथवा नहीं ? इसी प्रकार जो राष्ट्र बीसवीं शताब्दी और उसके बाद का इतिहास संसार के सामने उपस्थित करेंगे, उसमें योग्य स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा दूसरे नंबर पर ही चुपचाप बैठे रहना चाहिए ? यह प्रश्न वर्तमान समय में हम लोगों के सामने उपस्थित है ।"

"इंपीरियल कांस्टिटयूशन" (साम्राज्य संबंधी व्यवस्था के नियम) के तिरपनवें नियम में जर्मन समुद्री सेना, स्वयं जर्मन सम्राट् की देख रेख में कार्य करे, ऐसा निश्चित किया गया है । अतएव समुद्री सैनिक व्यवस्था का कार्य स्वयं जर्मन सम्राट् करते हैं । इस कार्य के संपादनार्थ कौन सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, उसे वे स्वयं अपने इच्छानुसार निर्धारित करते हैं और जब तक वे राज्याधिकारारूढ़ रहेंगे तब तक वे अपने उद्देश्य को कभी बदलनेवाले नहीं हैं । जर्मनी का समुद्र पर हित संबंध, विदेशी व्यापार, उपनिवेशों का राज्य, विदेश गए हुए जर्मन नागरिक, स्वदेशी किनारों और बंदरों की रक्षा, इन सब बातों का महत्व स्वयं सम्राट् को अच्छी तरह ज्ञात है और इसके लिये समुद्री शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रबल प्रयत्न करने में वे कभी प्रमाद से काम नहीं लेंगे ।

१८ जनवरी सन् १८९६ को जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुए २५ वर्ष पूरे हो गए अतएव उस दिन जो आनंदोत्सव मनाया गया उस अवसर पर जर्मन सम्राट् ने जो महत्वपूर्ण बातें कही थीं उनमें से कुछ ये हैं—"जर्मन साम्राज्य की

व्यापकता संसार भर में हो रही है। भूगोल के हर एक भाग में हमारे हजारों देश बांधव जाकर निवास कर रहे हैं। जर्मनी का माल, जर्मनी का ज्ञान, जर्मनी का साहस, समुद्र को पार कर के बहुत दूर तक पहुँच गया है। लाखों करोड़ों रुपयों का माल जर्मनी समुद्र पर से बाहर ले जाती है। इस बड़ी जर्मनी को मूल की छोटी जर्मनी से मिलाकर एक जीव कर देना, लोगों का पवित्र कर्तव्य है।" सन १८९७ में एक बार उन्होंने फिर भी कहा था—"सार्वभौम अधिकार और समुद्र पर अधिकार, ये दोनों परस्परावलंबी हैं। एक के आश्रय बिना दूसरा ठहर नहीं सकता।"

जर्मनी के विदेश से होनेवाले व्यापार के लिये अथवा उपनिवेशों में राज्य करने के लिये समुद्री शक्ति का बढ़ाया जाना बहुत जरुरी है, यह बात जर्मन सम्राट् बहुत दिनों से कह रहे हैं। परंतु इसके अतिरिक्त वे दूर दृष्टि से यह भी देख रहे हैं कि संसार के मुख्य राष्ट्रों में जर्मनों की गणना तभी हो सकती है जब उसका समुद्र पर पूर्ण अधिकार हो। जुलाई सन् १९०० ईस्वी में उन्होंने इस संबंध में कहा था—"अपने राष्ट्र के द्वार पर समुद्र की लहरें जोर से आ कर टकरा रही हैं। संसार के अन्य राष्ट्रों में अपने को जो उच्च स्थान प्राप्त हुआ है, उसे त्याग करने की आवश्यकता नहीं है और इस बात को और भी सरल भाषा में यों कह सकते हैं कि सारे संसार पर आक्रमण करने की राजनीति को स्वीकार करना चाहिए। समुद्र की वे लहरें मानों हमें इसी बात की सूचना दे रही हैं। जर्मनी के वैभव के लिये समुद्र

की सहायता अवश्य चाहिए परंतु वह समुद्र हमें यह भी स्मरण दिलाता है कि 'मेरे पृष्ठ भाग पर अथवा मेरी मर्यादा जहां समाप्त होती है वहां तक के प्रदेशों में, यदि कोई महत्व-पूर्ण राज-कारण होगा तो जर्मन अथवा जर्मन सम्राट् के बिना उसके होने की कोई आवश्यकता नहीं है।' राज-घराने के पुरुषों के अधीन रह कर तीस वर्ष पहले जर्मन लोगों ने अपने जीव होम कर, युद्ध में, जो यश संपादन किया था और विदेशीय महत्व के कामों में जो चालें चली जा रही हैं उसने मुझे एक किनारे रख दिया है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं आता। ऐसे कामों में यदि लोग मुझे एक ओर रख दें तो जगद्व्यापी अधिकार स्थापित करने की महत्वाकांक्षा का अंत ही समझना चाहिए। परंतु इस प्रकार का अंत मैं कभी होने न दूँगा। यह संकट दूर करने के लिये सब प्रकार के उपायों की—आवश्यकता पड़ने पर—अतिशय कठिन उपायों की योजना करना मेरा कर्तव्य होगा; इतना ही नहीं सम्राट् के नाते, मुझे यह अधिकार है, यह भी मैं समझता हूँ।"

ऊपर जो कुछ कहा गया है उस पर टीका टिप्पणी करना अथवा उसका भावार्थ समझाने के लिये अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जर्मन राष्ट्र की जल और स्थल दोनों पर प्रभुता बढ़ाने की महत्वाकांक्षा को जर्मन सम्राट् कभी लोगों से छिपा कर रखना नहीं चाहते। मार्च १९०५ में जर्मन सम्राट् ने ब्रेमन स्थान में भाषण करते हुए कहा था—"एक बड़े युद्ध में यदि जर्मनी को यश प्राप्त हुआ

तो भी मेरे इस जीवन काल में बाल्यावस्था से लेकर अब तक समुद्र-प्रवासी जर्मनों को किसी प्रकार का बड़प्पन अथवा वैभव प्राप्त नहीं हुआ है। इस विषय में हमारे पूर्वजों ने जो कार्य कर दिखलाया है उस संबंध में तर्कशास्त्र की सहायता से किसी बात का अनुमान करने के लिये हम तैयार नहीं हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार देश में सेना तैयार की थी। परंतु समुद्री सेना तैयार करने का कार्य हमारे राजत्व-काल में आकर उपस्थित हुआ है। अब तक कुछ लड़ाऊ जहाज तैयार किए गए और कुछ तैयार हो रहे हैं। जो जहाज तैयार हो गए हैं वे समुद्र पर अपना कार्य संपादन कर रहे हैं। समुद्र में तैरता हुआ प्रत्येक जर्मन लड़ाऊ जहाज, पृथ्वी पर शांति स्थापित करने के काम में एक प्रकार से लोगों को अभय प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त इन जहाजों द्वारा हमारे शत्रु हम से बदला देने या मुकाबला करने के काम में ही प्रवृत्त न होंगे वरन् हमारे साथ स्नेह संपादन करना ही अपने लिये लाभदायक समझेंगे।"

समुद्री सेना और लड़ाऊ जहाज बढ़ाने का विचार जर्मन सम्राट् का आज का नहीं है। यह उनका विचार बहुत पुराना है। इस संकल्प की पूर्ति के लिये वे बहुत दिनों से प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु उन्हें बहुत समय तक इस कार्य में यश प्राप्त नहीं हुआ। अब कुछ दिनों से उन्हें अपनी इच्छा पूरी करने के लिये अवसर प्राप्त हुआ है। सन् १९०० में जर्मन पार्लियामेंट ने नए समुद्री सैनिक विभाग को बहुत साधन प्रदान करके लड़ाऊ जहाज तैयार करने की आज्ञा दी

और उसी समय से इस ओर विशेष रूप से सम्राट् के इच्छानुसार कार्य आरंभ हुआ। आरंभ में तो यह कार्य बहुत धीरे धीरे होता रहा परंतु सन् १९०६ से जोर के साथ चलाया गया। जर्मनी में सैनिक जहाजों के बनाने के काम में कितना प्रयत्न हो रहा है इसका पता केवल इसी एक बात से लग जाता है कि अब तक इस कार्य में जर्मन राष्ट्र का कितना धन व्यय किया जा चुका है। सन् १८८८ में इस काम पर पैंतीस लाख पौंड खर्च हुए। इसके बाद दस वर्षों में और पचास लाख खर्च हुए। इसके पश्चात् प्रति वर्ष दो करोड़ दस लाख पौंड खर्च होने लगे। इस रकम में से आधी रकम तो नए जहाजों के बनाने में खर्च होने लगी। सन् १८८८ में समुद्री सेना विभाग में अधिकारी और खलासी मिलकर १५ हजार आदमी थे परंतु सन् १८९८ में यह संख्या बढ़ कर २३ हजार हो गई और सन् १९०८ में यह संख्या ५० हजार से भी ऊपर पहुँच गई थी।

सैनिक जहाजों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए, इस विषय में अब भिन्न भिन्न राजकीय पक्ष के सब लोग एकमत हो गए हैं। रेडिकल पक्ष के लोग सदा यह कहते रहते हैं कि खर्च में कुछ कमी होनी चाहिए। अधिक क्या कहें, उपनिवेशों को अधिकार में रखने से राष्ट्र को अधिक खर्च करना पड़ता है, अतएव उन्हें छोड़ देना चाहिए, यह कहने में भी वे लोग कभी संकोच नहीं करते! परंतु इतना होने पर भी वे लोग समुद्री सैनिक शक्ति को बढ़ाने के पक्ष में हैं, यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

इस आंदोलन को कितना बल प्राप्त हो गया है, यह बात अच्छी तरह जान लेने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। सैनिक शक्ति पर भरोसा रखनेवाले कुछ आततायी लोगों को छोड़ कर अन्य लोगों के मुख से इस आंदोलन के संबंध में बड़ाई अथवा अन्य राष्ट्रों के मन में भय उत्पन्न करने योग्य कोई भी शब्द कभी सुनाई नहीं पड़ते। परंतु तो भी जर्मन राष्ट्र के सब लोग, एकमत हो कर, दृढ़ निश्चय के साथ इस आंदोलन में भाग ले रहे हैं, यह बहुत महत्व की बात है। समुद्री सैनिक शक्ति सार्वभौम अधिकार की कुंजी है अथवा सार्वभौम सत्ता के साथ साथ समुद्री सैनिक शक्ति बढ़ती है अतएव इन दोनों अधिकारों का एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ संबंध है। इसलिये जर्मनी के सारे विश्वविद्यालय, अपना प्रभाव इस आंदोलन को यशस्वी बनाने के काम में डालते रहते हैं। नेवी पार्टी अर्थात् सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने के पक्ष-पाती लोगों को बड़े बड़े कारखानेवालों और व्यापारियों की सहायता प्राप्त है। समाचारपत्र इस विषय पर महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित करके लोकमत तैयार करने को सदा तत्पर रहते हैं और जर्मन पार्लियामेंट में समय समय पर इस विषय को उपस्थित करनेवाले बहुत से सभासद भी मौजूद हैं। इतना ही नहीं सदा झगड़ा उपस्थित करनेवाले सोशियालिस्ट लोग भी यह प्रतिपादन करते रहते हैं कि समुद्री शक्ति बढ़ाई जानी चाहिए।

नाविक शक्ति बढ़ाने की ओर आजकल जर्मनी में कितनी धूम है और लोगों का उस पर कितना प्रभाव जमा हुआ है,

यह जानना हो तो "नेवी लीग" का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ लेना चाहिए। इस संस्था ने कितने थोड़े दिनों में अपना प्रभाव लोगों पर डाल दिया और उसके प्रतिपादित तत्व लोगों को कहां तक स्वीकार हैं यह जान लेने ही से विश्वास हो जायगा कि लीग का प्रभाव लोगों पर कितना अधिक जमा हुआ है। इस लीग की स्थापना सन् १८९८ ई॰ में हुई। उस समय से आगामी दस वर्ष के अंदर ही लीग के सभासदों की संख्या दस लाख तक पहुँच गई। इन दस लाख में व्यक्तिगत सभासदों के अतिरिक्त कुछ संस्थाएँ भी हैं। समुद्री किनारे पर आबाद प्रांतों की संस्थाएँ ही इस लीग की सभासद हों, यह बात नहीं है, समुद्र के किनारे से बहुत दूर साक्सेन सरीखे प्रांत के भी बहुत से लोग इस लीग के सभासद हैं। शहरों में ही नहीं बहुत से गाँवों में भी इसकी शाखाएँ पाई जाती हैं। राजघराने के लोग भी लीग में सम्मिलित होकर कठिन से कठिन काम करने को तैयार हैं। इंग्लैंड और जर्मनी की नाविक शक्ति का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करा देने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के नक्शे, और समुद्रपट तैयार कराके उन्हें हर एक पाठशाला, पुस्तकालय और आफिस में भेजा गया है। सैनिक जहाजों के बनाने के अनुकूल लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से छपी हुई किताबें, सूचनापत्र आदि लीग के द्वारा घर घर भेजने का प्रबंध किया गया है। लीग की महत्वाकांक्षा अति उच्छृंखल होने के कारण उसके निश्चित किए हुए कार्यक्रम के अनुसार काम करना सरकार के लिये बहुत कठिन है परंतु तो भी लीग के उद्योग से बहुत

कुछ लोकमत अनुकूल तैयार हो जाने से सरकार को किसी कार्य के आरंभ कर देने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। और सरकार भी लीग द्वारा दी हुई सूचनाओं को जहां तक वह स्वीकार कर सकती है, वहां तक स्वीकार कर लेने में कभी आगा पीछा भी नहीं करती।

एक प्रभावशाली जर्मन समाचारपत्र ने एक अवसर पर यह प्रकाशित किया था—"जर्मनी की समुद्री शक्ति कभी तो इंग्लैंड की समुद्री शक्ति के बराबर होगी, यदि यह कल्पना आज जर्मन लोगों की नहीं है तो उनसे बढ़ कर हमारी शक्ति कब हो जायगी ऐसी आशा करने के लिये और स्थान ही कहां बाकी है?" उसका यह कथन आज भी संभव है सच हो, परंतु कुछ वर्षों के बाद स्थिति कैसी होगी, यह आज कौन कह सकता है? जर्मनी का वर्तमान समय का आंदोलन बीच में ही बंद हो जायगा, यह बात संभव नहीं मालूम होती। जब तक धनबल की अनुकूलता है तब तक अपनी नाविक शक्ति बढ़ाने के काम में जर्मन पीछे पैर नहीं हटा सकते। ऐसी दशा में "हमने अपनी समुद्री शक्ति बढ़ाई तो भी उससे अन्य राष्ट्रों की शक्ति भंग होने का जरा भी भय नहीं है।" इन कोरी बातों से अन्य राष्ट्रों का समाधान कैसे होगा? अँगरेजों का इस उपदेश से समाधान नहीं होता, यह बात तो प्रत्यक्ष ही है। अतएव जर्मन लोगों की इस उच्छृंखल वृत्ति को किस प्रकार दबाया जाय, इस संबंध में अँगरेज लोग सदा विचार किया करते हैं। इंग्लैंड की इस चिंता को देख कर जर्मनी के एक समाचार पत्र ने प्रकाशित किया था कि—

"समुद्री शक्ति के प्रश्न पर इंग्लैंड से वाद विवाद उपस्थित होते ही जर्मनी का नाम क्यों आगे रक्खा जाता है ? जर्मन सरकार ने अपना मत सब लोगों के जानने के लिये पहले से ही प्रकट कर दिया है। जर्मन राइस्टाग भी उस विचार से सहमत है। नए जर्मन "नेवी विल" द्वारा निश्चित की हुई योजना को काम में न लाया जावे, ऐसी इच्छा इंग्लैंड बर्लिन में प्रगट नहीं कर सकती। फ्रांस और जापान से स्नेह संपादन करके और रूस को भी अपनी ओर मिला कर, यदि जर्मनी ने एक रणपोत तैयार करने का निश्चय किया तो इन तीनों राष्ट्रों के मिला कर दो युद्धपोत तैयार होने चाहिएँ, यदि ऐसा इंग्लैंड ने निश्चय किया और निश्चय के अनुसार कार्य करने पर इंग्लैंड का अधिक धन खर्च हुआ तो उसके अपयश का टीका जर्मनी के माथे क्यों लगाया जाता है ?"

बड़े बड़े रणपोतों को तैयार करने की कल्पना धीरे धीरे जर्मनी में कितनी प्रबल हो उठी है, इस बात पर जिन्होंने ध्यानपूर्वक विचार किया है वे सहज ही में जान सकते हैं कि जर्मनी की बढ़ती हुई आबादी और विदेशी व्यापार इन दोनों कठिनाइयों के कारण जर्मन लोगों के मन में जो भय उत्पन्न हुआ है, उसे देखते हुए, यह कोई विचारशील पुरुष नहीं कह सकता कि जर्मनी अपनी पुरानी समुद्री शक्ति के संबंध में निर्धारित नीति पर ही सदा चलती रहेगी। इस संबंध में बहुत से अँगरेज लोग यह आक्षेप करते हैं कि भविष्यत् काल की कठिनाइयों की कल्पना करके जर्मन राष्ट्र आज कल बिना कारण ही घोर चिंता में डूबा हुआ है। परंतु दूरदर्शिता और

बुद्धिमत्ता का यह पहला लक्षण है। राजकाज में प्रति क्षण नई कठिनाइयाँ और नए संकट उपस्थित होने पर उसी समय नित नए राजनैतिक सुधार किए जावें अर्थात् "प्रदीप्ते भवने तु कूपखननं" नीति को जर्मन लोग स्वीकार न करें तो फिर उन्हें किस मुख से दोषी ठहराया जाय! सन् १८७१ में जो विजय जर्मनी ने प्राप्त की उससे पहले ही जब जर्मनी ने यह घोषण प्रचारित की थी कि हर एक व्यक्ति को सैनिक शिक्षा पानी चाहिए, उसी समय वह विजय प्राप्त हो चुकी थी। आजकल औद्योगिक बातों में जर्मनी का जो विकास हुआ है उसकी नींव अठारहवीं शताब्दी में अर्थात् प्रशिया और साक्सेन ने जब अनिवार्य शिक्षाप्रचार की घोषणा की थी उसी समय पड़ चुकी थी। जर्मनी के नगरों की व्यवस्था जो आजकल दिखाई पड़ती है, उस का बीज आज से सौ वर्ष पहले ही बोया जा चुका था। इन सब उदाहरणों को ध्यान में रख कर भावी संकट को दूर करने के उपाय जर्मन राजनीतिज्ञ अभी से सोच रहे हैं, यह उचित ही है। इस विषय में जर्मन लोगों का मत "कलोन गजट" ने इस प्रकार स्पष्ट प्रकट कर दिया है—"लड़ाऊ जहाज तैयार करने का जो कार्यक्रम है उसे जरा कम करो, यदि यह बात अंगरेज लोगों से हम कहें तो वे क्रोधित होकर उछलने लगते हैं। इसी प्रकार जर्मनी को अपना नाविक कार्य-क्रम इस प्रकार रखना चाहिए, यह कहने का ग्रेट बृटेन को कहां से अधिकार प्राप्त है; इस बात का हमें तो पता नहीं चलता, कृपा कर इसे इंग्लैंड को ही बताना चाहिए ?"

जर्मनी का यह पक्ष और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते नहीं बनता। उनका यह पक्ष प्रबल है, अतएव इस विषय में अधिक वाद विवाद करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। समुद्र पर जर्मनी की शक्ति बढ़ने से इंग्लैंड के हित-संबंध को विशेष धक्का पहुँचना संभव है। यह बात सच है, परंतु तो भी इंग्लैंड को शांतिपूर्वक और निर्विकार बुद्धि से यह देखना चाहिए कि अपने लाभ और स्थिति के अनुसार इस राजनीति को स्वीकार करने का जर्मनी को पूरा अधिकार है। यह बात एक बार स्थिर कर लेने पश्चात् इंग्लैंड सुरक्षित रह सकती है और दोनों देशों को लाभ पहुँच सकता है। जर्मनी को जो उचित जान पड़े, उसी के अनुसार उसे चलना चाहिए और इंग्लैंड को जिसमें अपना लाभ दिखाई पड़े वह काम करना चाहिए, इस तत्व पर कार्य करने से इंग्लैंड को अपनी समुद्री शक्ति बढ़ाने में अधिक धन व्यय करना पड़ेगा और इस कारण प्रजा पर अधिक कर लगाने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। परंतु इसके लिये उपाय क्या है? किस हेतु से बृटिश राजनीतिज्ञ अपनी समुद्री शक्ति बढ़ा रहे हैं यह बात जनता के ध्यान में आते ही देश-कल्याण की दृष्टि से अधिक कर का बोझा उठा लेने में बृटिश लोग कभी आगा पीछा न करेंगे।

बिस्मार्क ने इस ओर ध्यान दिया और इंग्लैंड के साथ उत्पन्न हुआ विवाद शीघ्र नहीं मिटता जब उन्होंने यह देखा तब उन्होंने ल्युडेरिट को प्राप्त हुए प्रदेश को जर्मन सरकार के अधिकार में किए जाने की सूचना प्रकाशित कर दी। इस सूचना के प्रकाशित होते ही इंग्लैंड द्वारा उपस्थित किया हुआ विवाद जहां का तहां रुक गया। इस प्रकार ऑरेंज नदी से केप फ्रायो तक वालफिश खाड़ी को निकाल कर समुद्र के किनारे का प्रांत जर्मनी को प्राप्त हो गया। इसके बाद दो वर्षों में ही अफ्रीका और पैसिफिक महासागर में जर्मन उपनिवेशों का विस्तार ३,७७,००० वर्ग मील अर्थात् जर्मनी के दूने रकबे के बराबर हो गया। इस रकबे में १७,५०,००० मनुष्य जर्मनी के आश्रय में निवास करते हैं।

इस प्रकार केवल दो ढाई वर्ष में ही उपनिवेशों के स्थापित करने के काम में जर्मनी को बहुत कुछ यश प्राप्त हुआ। परंतु उसका यह प्रयत्न क्षणिक था। कोई नियमबद्ध आंदोलन नहीं हुआ और न यही निश्चय हुआ था कि जो लोग स्वदेश छोड़ कर जावें वे जर्मन सरकार की रक्षा में ही निवास करें। परंतु जिस क्षणिक कार्य ने जर्मनी में जागृति उत्पन्न कर दी थी उसका प्रवाह दिनों दिन बढ़ता ही गया और थोड़े समय बाद ही देश में चारों ओर उपनिवेशों को स्थापित करने की आवाज सुनाई देने लगी। इस नवीन आंदोलन ने सबों का ध्यान इस ओर आकर्षित कर दिया। किसी राष्ट्रीय आंदोलन का आरंभ होने से उसका संसर्ग जर्मनी के समान मनोविकाराधीन और उत्साही जाति में

शीघ्रता से जड़ पकड़ लेता है। वही दशा यहां भी हुई। उपनिवेशों का प्रश्न कितना व्यापक है, उसके संबंध में भिन्न भिन्न पहलुओं पर विचार करना पड़ता है। इन बातों का यथार्थ अनुभव किसी को हुआ था अथवा नहीं, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। इस विषय में लोगों की मनोवृत्तियाँ एक दम उच्छृंखलित हो गईं। वे पागल के समान हो गए। ऐसी दशा में उत्तमतापूर्वक विचार करने की ओर ध्यान देने-वाले विचारों की भला कहां गुजर हो सकती है?

प्रिंस बिस्मार्क की सहायता से उपनिवेशों के आंदोलन का काम आरंभ हुआ और शीघ्र ही उसे राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया गया। परंतु इस संबंध में यह बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है कि उस महामति के मत में स्वतः इस कार्य के संबंध में अधिक श्रद्धा न थी। सन् १८९९ में अर्थात् उपनिवेशों का आरंभ होने के सत्रह वर्ष बाद उन्होंने यह कहा था—"उपनिवेश हमें नहीं चाहिएँ, अब तक हमारा यही कहना है।" यदि वे अपने मतानुसार कार्य करते तो बहुत कुछ संभव था कि वे इस प्रश्न की ओर ध्यान ही न देते। समस्त देश में ही देश को स्थावर करना ही उनकी राजनीति का मुख्य उद्देश्य था। इसी के अनुसार जर्मनी को कार्य करना चाहिए और अधिक देशप्राप्ति के प्रयत्न में न पड़ना चाहिए, सन् १८७१ से वे इसी नीति तत्त्व का प्रचार करते रहे। जर्मनी की सत्ता दूर देशों में स्थापित करने की अनिश्चित योजना के पीछे लगने का समय नहीं है और यदि ऐसा किया जायगा तो बहुत कुछ हानि पहुँचने की संभावना

है, यह उनका विश्वास था। अंत में उन्होंने इस कार्य में जो हाथ डाला वह लोकमत का केवल आदर करने के लिये। परंतु इस काम में अपने को यश प्राप्त होगा, इस बात का उन्हें विश्वास न था। आरंभ में तो, ल्युडेरिट सरीखे जर्मन नागरिक के विदेशीय राज्य में स्थापित किए हुए अधिकार की रक्षा करना साम्राज्य सरकार का कर्त्तव्य है, इस बात ने यह बोझा उनपर लाद दिया, और पश्चात् " प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजंति " इस नीति के अनुसार कार्य करना, यह उनका स्वाभाविक धर्म था। इसी का अनुकरण करके उपनिवेशों को स्थापित करने का उद्योग जो एक बार आरंभ हुआ उसे उन्होंने यथाशक्ति निबाहा। परंतु ऐसा करते हुए भी लोकमत अपने अनुकूल है या नहीं, इस बात को जानने की वे विशेष चिंता रखते थे। लोकमत यदि अनुकूल न होता तो उन्होंने इस काम में अपना पैर आगे न बढ़ाया होता।

प्रिंस बिस्मार्क के मन में, अपने मत के विषय में यदि अविश्वास था तो केवल उपनिवेशों के विषय में था। उपनिवेशों का बोझ यदि साम्राज्य पर लादा जाय तो सारे राष्ट्र की एक राय होने से लादना उचित होगा, इस तत्त्व पर वे आरंभ से ही चलने लगे थे। इस विषय में वे अपने आप कोई जिम्मेदारी लेना नहीं चाहते थे। लोगों ने जिस काम की बाबत अपना मत स्पष्ट रूप से एक बार नहीं, अनेक बार प्रगट किया, उस काम को आज्ञा समझ कर करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह बात उन्होंने सन् १८८४ में एक बार नहीं अनेक बार प्रकट की थी।

इतना ही क्यों, उनको यह भी विश्वास था कि यदि अंगरेजी ढंग के उपनिवेश स्थापित किए जाने का प्रयत्न किया जायगा तो आगे चलकर बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। परदेश की आबोहवा और उपरोक्त काम में राष्ट्र का अनुभवहीन होना इन दो कठिनाइयों का उन्होंने कभी विचार भी नहीं किया। आस्ट्रेलिया और कनाडा, ये दो देश जिस मार्ग से बृटिश राजसत्ता के अधिकार में आए उसी मार्ग से जर्मन लोग उपनिवेशों में जाकर वहां सदा के लिये वास करें, उपरोक्त दोनों कठिनाइयों के कारण यह विचार कभी उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। यदि इसी कार्य के दूसरी ओर दृष्टि डाल कर देखें तो आशिया में अधिकारिनिष्ठ [illegible] (System of bureaucracy) का प्रचार करने के काम में जर्मन उपनिवेशों का उपयोग किया जाय यह भी उनकी इच्छा न थी। उनका मत था उपनिवेश व्यापार करने के स्थान (Trading Stations हैं। वहां गए हुए व्यापारियों को अपनी जिम्मेदारी पर काम करना और वहीं उद्योग धंधों की उन्नति करनी चाहिए। यह बात उन्होंने एक अवसर पर सन् १८८५ में इस प्रकार कही थी—
"उपनिवेशों की सत्ता व्यापारियों के हाथ में रहनी चाहिए। सरकार को अपना अधिकारी वहां पर नियत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रिवी-कौंसिलर और छोटे छोटे सैनिक अधिकारी देश में ही बहुत मजे में हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि उपनिवेशों का काम व्यापारीमंडल द्वारा ही भली भांति हो सकेगा।"

उनके ये विचार सयुक्तिक और राजनीतिज्ञता से भरे हुए थे। यदि उनके विचारानुसार उपनिवेशों की राज्य-व्यवस्था का प्रबंध किया गया होता तो जर्मन राष्ट्र का बहुत कुछ कल्याण होता और इस काम में आगे चलकर जिस अपयश और निराशा का सामना करना पड़ा, उसका सामना न करना पड़ता।

जर्मन स्वभाव और राजकीय विचार के केवल बाह्य स्वरूप पर मुग्ध न होकर यदि जरा गहरा विचार किया जाय तो यह बात मालूम हो जायगी कि जब से उपनिवेशों के आंदोलन का कार्य आरंभ जब से हुआ तब से सारे जर्मन राष्ट्र के लोगों को अत्यंत आनंद प्राप्त हुआ। वे इस काम के पीछे बिलकुल पागल बन गए थे। परंतु इस कार्य के आरंभ होने के दस पांच वर्ष बाद ही वे इस काम से इतने उदासीन हो गए कि सन् १९०७ के निर्वाचन के समय कालोनियल सेक्रेटरी हर डर्नबर्ग को यह उपदेश देना पड़ा कि "इस काम में इतनी उदासीनता न दिखानी चाहिए।"

लोगों का उत्साह क्यों नष्ट हो गया, इसका भी कारण जान लेना बहुत जरूरी है। इस तरह हतोत्साह होने के अनेक कारण हैं, जिनमें से कुछ पर तो जर्मनी के औपनिवेशिक राज्यों का भविष्य बहुत कुछ अवलंबित है। और पहले पर से, की अपेक्षा कदाचित् अधिक अनुकूल परिस्थिति हुई तो भी उपनिवेशों का जर्मनी को पूर्ण यश प्राप्त होगा अथवा नहीं, यह संदेह करना उचित नहीं है तो भी संदेह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

उपनिवेशों के प्रतिकूल मत रखनेवाले लोग यह कह सकते हैं कि उपनिवेशों से अपने देश का लाभ होना तो दूर रहा उसके लिये उल्टा युद्ध करना, धन खर्च करना और हजारों मनुष्यों का बलि प्रदान करना पड़ता है। यदि इतना ही होता तो भी ठीक था। जर्मनी ने जहां किसी प्रांत पर अधिकार जमाया वहां सुधार का कार्य आरंभ हुआ और वह सुधार कैसा ! ऐसा कि जिससे सर्वत्र जर्मनी के कार्य और राज्य-व्यवस्था की प्रशंसा हो। परंतु यह न हो कर अन्य राष्ट्रों के साथ नित नए झगड़े आकर उपस्थित हो जाते हैं।

जर्मनी को अपने उपनिवेशों के लिये कितना धन खर्च करना पड़ता है, यह बात केवल दो वर्ष के अंकों को जान कर ही मालूम की जा सकती है। सन् १८८५ में केवल १७,४०० पौंड खर्च हुआ। परंतु १९०५ में अर्थात् बीस वर्ष बाद यह खर्च बढ़कर नब्बे लाख पौंड हो गया ! यह बात सच है कि इन दिनों में जर्मनी को नैर्ऋत्य अफ्रीका में भी युद्ध करना पड़ा, परंतु साधारण तौर पर भी खर्च बढ़ रहा था, यह कहने में भी कुछ हर्ज नहीं है। आजकल उपनिवेशों में सर्वत्र शांति विराज रही है। अतएव युद्ध के लिये अधिक धन खर्च करने की भी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं है। परंतु तो भी जर्मनी को प्रति वर्ष बीस लाख पौंड से कम खर्च पड़ता हो, यह भी नहीं दिखाई पड़ता। यह बात मनगढंत नहीं है। सरकारी रपोर्ट से इस बात का पता चलता है।

भिन्न भिन्न युद्धों में प्राणहानि कितनी हुई, इसका कुछ

भी ब्योरा न मिलने से ठीक पता नहीं बताया जा सकता परंतु स्वयं उपनिवेश निवासियों अथवा उनके लिये औरों से युद्ध करने में प्राणहानि बहुत ही अधिक हुई है, यह कहने में भी कुछ हर्ज नहीं मालूम होता !

इसके अलावा एक बात और है। उपनिवेशों का राज काज चलाने के नियम और उन नियमों के अनुसार काम करनेवाले अधिकारियों को नियत करना, लोगों के सुख की ओर ध्यान देकर नहीं किया जाता। इस काम में प्रिंस बिस्मार्क ने जो नीति निश्चित कर दी थी अर्थात् उपनिवेशों की व्यवस्था व्यापारी मंडल के हाथ में देनी चाहिए, उसे त्याग कर सरकार ने जो अधिकारी नियत किए वे बर्लिन की आबोहवा में पले पोसे थे, अतएव उन्होंने वहां जाकर कड़ाई के साथ राज्यशासन का कार्य आरंभ किया, और बृहत् बर्लिन के स्वरूप के छोटे छोटे बर्लिन अफ्रीका और पैसिफिक महासागर के बहुत से भागों में स्थापित किए !

पहले विद्या पश्चात् उसका व्यावहारिक उपयोग, यह क्रम जर्मनी ने अपने सारे भौतिक कार्यों में जारी कर रक्खा है। परंतु इस विषय में उसने अपना सदा का यह क्रम परित्याग कर दिया। उपनिवेशों के विषय में उसे पहले कहीं भी अनुभव प्राप्त नहीं हुआ था। जर्मन राज्य का इतना बड़ा राज काज उक्त राजपद्धति के कारण बिना किसी आपत्ति के चल रहा है, वही पद्धति यदि उपनिवेशों में काम में लाई जाय तो वहां भी सर्वत्र बिना किसी कठिनाई या आपत्ति के कार्य चल सकता था, यह विचार कर वहां भी राज्य-शकट

हांकने का प्रयत्न किया गया ! यदि यह कल्पना ठीक होती और उपनिवेशों में भी बिना किसी कठिनाई या आपत्ति के राज काज चलता तो वहां शांति देवी का अटल राज्य हो जाता और लोगों की सांपत्तिक उन्नति भी खूब होती ! परंतु इनमें से एक भी बात अनुभव से सिद्ध नहीं हुई। इस विषय में नए कालोनियल सेक्रेटरी से पहले जो भूलें हुई हैं, उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—"उपनिवेश स्थापित करने के काम में जर्मन लोग निरुपयोगी और निकम्मे हैं, ऐसा लोग कहते हैं। परंतु हम लोगों के हाथ से ऐसा निकम्मा काम क्यों हो ? हमलोग क्या व्यापार में निकम्मे हैं ? खलासियों का काम करना क्या हमें नहीं आता ? समुद्र पर क्या हमने अपना व्यापार बहुत थोड़ा बढ़ा पाया है ? रणभूमि पर क्या हमने कभी पीठ दिखाई है ? इतना होकर भी उपनिवेशों के कार्य में हमारा घोड़ा आकर कहां रुक गया है ? इसका उत्तर यह है कि इस कार्य में यश-संपादन करने के पहले कुछ राष्ट्रों ने जिस प्रकार कितने ही दिनों तक उम्मेदवारी की थी, वैसी हमलोगों ने कभी नहीं की। अन्य विषयों में हमने प्रवीणता प्राप्त की परंतु उसके लिये आरंभ में हमें कितना कष्ट सहन करना पड़ा है ! उपनिवेशों का स्थापित करना बच्चों का खेल नहीं है ! यह भी एक विद्या है। और यह विद्या प्राप्त होने पर, व्यवहार में उसका उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह एक भिन्न विषय है। यह विषय, किसी कमरे में बैठकर प्रोफेसरों के व्याख्यानों को सुनकर अथवा इसी प्रकार के अन्य उपायों से साध्य नहीं हो सकता। इसके

लिये तो विदेशों में जाना चाहिए। वहां के लोगों की दशा क्या है, उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं, इन बातों का अनुभव प्राप्त करना चाहिए। और इस विषय में अन्य लोगों के विचार क्या हैं, यह ध्यान में रखकर, अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिये कार्य का आरंभ करना चाहिए।''

एक बात और है। उस देश के निवासियों की चाल ढाल, उनका वंशपरंपरागत जीवनक्रम आदि बातों की ओर जर्मनों ने बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उनके कायदे कानून, उनकी व्यावहारिक रूढ़ि, इन बातों का भी नियमानुसार अनुभव प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया गया। और न उन लोगों के अनुकूल कानून कायदों को बनाने की व्यवस्था की गई। प्रशियन कानून को ले जाकर वहाँ उनका प्रचार किया गया! इस कारण वहाँ की प्रजा को बहुत कष्ट उठाने पड़े और सरकारी अधिकारियों ने भी वहां के निवासियों को बहुत दुःख पहुँचाए। "नेटिवों" की पुरानी चाल ढाल और विचारों को पैर तले दबा कर वहां के निवासियों को जर्मनी के बराबर लाने का प्रयत्न किया गया। अतएव उपनिवेशों की पुरानी मर्यादा नष्ट होकर लोगों में असंतुष्टता उत्पन्न हो गई। काले नीग्रो लोगों के लिये जो कानून बनाया गया वह अत्यंत असमाधानकारक साबित हुआ। उठते बैठते उनके साथ कलह और वाद-विवाद उपस्थित होने से जर्मन नाम कलंकित हुआ। 'नीग्रो लोगों को हमारे विषय में तनिक भी सहानुभूति नहीं है।' ये उद्गार सन् १९०६ में राइशटग के एक सभासद ने व्यक्त किए थे। उपरोक्त वर्णन शब्द

प्रति शब्द सत्य है। ऐसी स्थिति को देखकर सन १९०७ में, कोलोनियल आफिस ने एक कमीशन इस उद्देश्य से नियत किया कि भिन्न भिन्न उपनिवेशों की पुरानी पद्धति और क़ानून क़ायदों का परिचय प्राप्त करके, उनको व्यवस्थित स्वरूप देने की तहकीकात की जाय। यदि बीस वर्ष पहले इस सरल मार्ग का अवलंबन किया जाता तो राजकाज में जो बहुत सी भूलें और प्रमाद हुए हैं वे न होते और छोटे मोटे जो अनेक युद्ध हुए, वे भी न होते।

इससे भी बुरी बात यह हुई कि उपनिवेशों का राजकाज जिन अधिकारियों को सौंपा गया था, उसमें मनुष्यता का अत्यंत अभाव था। उनमें कुछ लोग अच्छे अवश्य थे, परंतु उन प्रांतों में खेती का काम बिलकुल आरंभिक दशा में था। स्वदेश में जिन्होंने स्थिरतापूर्वक कोई व्यवसाय नहीं किया, जिनके स्वभाव में स्थिरता नहीं है, जिनका जीवन बुरे व्यसनों में ही व्यतीत हुआ, ऐसे लोगों को अपने ऊपर की बला टालने की गरज से सरकार ने उपनिवेशों का गवर्नर बनाया था। यही क्रम अनेक वर्षों तक जारी रहा। सन् १८८८ में जर्मन सम्राट् ने पार्लियामेंट में भाषण करते समय कहा था—"अफ्रीका में जर्मन राज्याधिकार स्थापित करके 'क्रिश्चियन' सुधार करना इस राष्ट्र का पवित्र कर्तव्य है।" यह 'क्रिश्चियन' सुधार तो एक ओर रहा, उलटा किसी प्रकार का भी सुधार न हो सका। सरकारी नौकरों और गोरे किसानों (Planters) ने नीग्रो लोगों के साथ गुलामों का सा बर्त्ताव किया। उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किए।

उनके साथ व्यवहार करने में उनके क़ानून क़ायदों का मर्दन किया। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे मोटे उनपर अनेक अत्याचार किए गए। ये बातें केवल कल्पना मात्र नहीं हैं, कमीशन की जांच के समय ये सब बातें सामने लाई गईं और इन बातों को सुनकर सुननेवालों के मन में यह भाव उत्पन्न हुए बिना क्या रह सकता है कि 'ऐ अनियमित क्रिश्चियन सुधार! तू कहां दबा हुआ कोने में बैठा है ?"

जहां सरकारी अधिकारी गैर क़ानूनी व्यवहार करते हैं वहां के व्यापारी भी यदि मनमाना लोगों के साथ व्यवहार करें तो इसमें आश्चर्य की बात ही कौन सी है ? व्यापारियों को यह निश्चय हो गया था कि 'नेटिव' लोगों से जैसे बने वैसे धन प्राप्त करने का हमें अधिकार है। बहुतों ने तो इसी मार्ग का अवलंबन करके लोगों की जमीन तक छीन ली। आरंभ में गोरे किसानों को मिशनरी लोगों ने मजदूरों के ला देने में सहायता भी पहुँचाई। परंतु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि हमारे लाए हुए मजदूरों में से एक साल के अंदर एक चौथाई यमसदन को पहुँच गए, बहुत से बीमार हो गए और बहुतों को मालिकों ने शराबी बनाकर धूल में मिला दिया, तब उन्होंने इस कार्य से अपना हाथ खींच लिया और उन लोगों के कर्मों का संसार के सामने चिट्ठा खोल दिया। गोरे किसानों और व्यापारियों ने इस बाबत, मिशनरियों के ऊपर क्रोध भी प्रकाशित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में कोई भी माई का लाल ऐसा जर्मनी में नहीं पाया जाता था जो यह कहने का साहस करता कि उपनिवेश वासियों से नर्मी का बर्ताव

करो, बिना नर्मी का वर्ताव किए काम चल नहीं सकेगा। सन् १९०४ में, एक सज्जन ने, इस विषय पर एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने यह लिखा था— "नीग्रो लोगों से सख्ती के साथ ही काम लेना चाहिए और इसके बदले में उन्हें केवल भोजन दिया जाना चाहिए! बस, उनके लिये इतना ही काफी है! कुछ वर्षों तक सख्ती के साथ मजदूरी देना ही न्यायानुकूल दंड का एक उचित मार्ग है और ऐसा किए बिना अच्छा काम कैसे करना चाहिए, इस बात की मजदूरों को शिक्षा नहीं मिलती। ईसाई धर्म में कहे हुए दया धर्म और परोपकार से मिशनरियों को लाभा-लाभ प्राप्त होता है, हमारे काम में इन बातों का कुछ भी उपयोग नहीं होता।"

ये सब बातें सुन जर्मन लोकमत विकल हो उठा और राइ-शटाग में सरकार पर टीका टिप्पणियों की बौछार होने लगी। सन् १९०४—०५ में उपनिवेशों के अधिकारियों अथवा अन्य लोगों के कामों का परिचय जब प्रमाण सहित लोगों को दिया गया तब तो लोगों के क्रोध की सीमा न रही। सन् १९०५ में रेडिकल पक्ष के लोगों की एक सभा हुई थी, उस सभा में, यह प्रस्ताव पास हुआ था कि भविष्यत् के लिये यदि उपनिवेशों का कार्य बंद कर दिया जाय तो बहुत अच्छा हो। एक सभासद ने तो यहां तक कह डाला था कि "यदि नीलाम की बोली बोल कर उपनिवेशों को बेच डाला जाय तो देश का बड़ा कल्याण होगा।" परंतु ऐसी बातें करने से भी लाभ क्या! सरकार के काम पर टीका टिप्पणी करना

चाहिए परंतु उस टीका टिप्पणी से सरकारी काम को मदद पहुँचे, इस बात पर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिए। सन १८९७ से रेडिकल पक्ष के लोग, इस काम में सरकार का सहायता देने के लिये तैयार हुए हैं। वर्तमान नए कलोनियल सेक्रेटरी उत्तम राजनीतिज्ञ हैं। उपनिवेशों के काम की ओर वे बहुत ध्यान रखते हैं। उनके प्रयत्नों को यश प्राप्त होकर जर्मनी पर जो कलंक लगा है वह शीघ्र दूर हो जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय।

उपनिवेशों का नया युग।

सन् १९०७ के मई मास में, "कलोनियल आफिस" नाम का एक स्वतंत्र महकमा बनाया गया और उसके द्वारा उपनिवेशों के सुधार का कार्य आरंभ हुआ। उसके पहले "कालोनियल डिपार्टमेंट" नाम का एक महकमा था जिसके मुख्याधिकारी का नाम "कालोनियल डायरेक्टर" रक्खा गया था। परंतु यह महकमा "फॉरेन आफिस" का एक भाग था। अतएव उपनिवेशों का सारा अधिकार फॉरेन मिनिस्टर के हाथ में था। समय समय पर जो फॉरेन मिनिस्टर होते गए उन्होंने बिना कारण कालोनियल डायरेक्टर के काम में हस्तक्षेप न करने की नीति का अवलंबन किया था। परंतु राज्य-व्यवस्था का नियम ही ऐसा है कि एक की जिम्मेदारी दूसरे पर डालने से काम उत्तमतापूर्वक नहीं चलता। यही दशा यहां भी हुई। इस व्यवस्था से दोनों के काम में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। फॉरेन आफिस के हाथ में जो सत्ता थी उसका भी उपयोग करना दूसरे के हाथ में था। इसके अतिरिक्त परराष्ट्र से जिन बातों का संबंध नहीं है, ऐसी बहुत सी बातों की ओर फॉरेन सेक्रेटरी को अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ता था। इस मामले में फॉरेन आफिस को उपरोक्त कठिनाइयों का सामना करना

पड़ता था। कालोनियल डिपार्टमेंट के हाथ में अधिकारों को उपयोग में लाने का काम था परंतु कुछ मामलों के अंतिम निर्णय का काम दूसरे लोगों के हाथ में था, इस कठिनाई का सामना फॉरेन डिपार्टमेंट को करना पड़ता था। तात्पर्य यह कि दोनों महकमे एक दूसरे से ऐसे बिंधे हुए थे कि सुधार का काम बिना दोनों के एकमत हुए हो नहीं सकता था, और यह काम कुछ सहज न था।

इस कठिनाई को दूर करने की गरज से ही एक स्वतंत्र "कलोनियल आफिस" बनाने की स्वीकृति राइशटग से समय समय पर चांसेलर लोगों ने माँगी थी; परंतु उन्हें बहुत दिनों तक यह मंजूरी नहीं मिली। अंत में प्रिंस वॉन ब्यूलो के समय में राइशटग ने एक अलहदा महकमा बनाने की मंजूरी दे दी। इस प्रकार सन् १९०७ में उपनिवेशों का कार्य निरीक्षण करने के लिये एक स्वतंत्र विभाग स्थापित हो गया। और हर उर्नहार्ड डेर्नबर्ग इसके सेक्रेटरी नियत हुए। ये जाति के यहूदी हैं। इससे पहले आप कलोनियल डायरेक्टर थे। उपनिवेशों का सुधार संबंधी काम आपके बताए हुए मार्ग से कितने दिनों में पूरा होगा यह बात तो समय बतावेगा परंतु आप उच्चकोटि के आशावादी हैं। आप अपनी योजनाओं को पूरा करने के लिये कितना उत्साह और प्रयत्न करते हैं, यह बात आपके कामों से प्रकट होती है। आप बड़े दृढ़ निश्चयी हैं। जिस समय आप कालोनियल सेक्रेटरी बनाए गए वह समय बड़ा नाजुक था। सांपत्तिक और नैतिक दृष्टि से उपनिवेशों का आंदोलन बिलकुल निरुपयोगी

साबित हो चुका था और उनकी व्यवस्था संबंधी प्रस्तावों के विषय में किसी के मुँह से भूल कर भी अच्छे शब्द नहीं निकलते थे। परंतु आपके हाथ में अधिकार जाने से विदेश में जर्मनी के राज्य संबंधी कार्यों का विश्वास फिर उत्पन्न होने लगा है। अतएव इसका श्रेय आपको ही मिलना चाहिए।

उपनिवेशों की अंगरेजी पद्धति जर्मन पद्धति की अपेक्षा उत्तम है, यह उनका मत है और इसी उद्देश्य को आगे रखकर उन्होंने अपना कार्यक्रम आरंभ किया है। आरंभ में तो आपने देश के अनेक विद्वानों, कारीगरों, बड़े बड़े कारखानेवालों और व्यापारियों के सामने व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों में आपने खास कर राष्ट्राभिमान और राष्ट्रहित की बातें लोगों को बताईं। आपका कथन है कि जर्मन राष्ट्र ने जो काम एक बार हाथ में लिया उसको छोड़ना राष्ट्र की बड़ी मान-हानि है। यह तो हुई उनकी राष्ट्राभिमान की बात परंतु राष्ट्रहित के संबंध में उनके विचार सुनिए—"जर्मन राष्ट्र के मजदूरों की व्यवस्था भविष्यत् में कैसी होनी चाहिए जिससे उद्योग व्यवसाय में लगे हुए मजदूरों को पेटभर खाने को अन्न प्राप्त हो और व्यापार, उद्योग धंधों अथवा नए जहाज बनाने के काम में देश का धन लगाया जा सके; ये सब महत्व के प्रश्न उपनिवेशों के व्यवस्थित राज काज पर ही अवलंबित हैं।"

कालोनियल सेक्रेटरी के मतानुसार आगे ऐसा समय शीघ्र ही आनेवाला है कि जर्मन उद्योग धंधों और कारखानों को जितना कच्चा माल दरकार होगा अथवा गर्म वायु में

उत्पन्न होनेवाले अनाज की जितनी आवश्यकता होगी उतना उपनिवेशों से प्राप्त हो सकेगा। उनका यह कहना था कि अंगरेजी उपनिवेशों की अवस्था उत्तम होने पर भी वहां की जनसंख्या कम होने के कारण उन देशों से इस प्रकार का जो लाभ होना चाहिए वह नहीं होता है परंतु जर्मनी को थोड़े समय में ही यह लाभ होने लगेगा, यह संभव नहीं मालूम होता। कपास, ऊन, तांबा, रबर, पेट्रोलियम, काफी, चावल, तिलहन और सन आदि पदार्थ जर्मनी को विदेश से ही लाने पड़ते हैं। सन् १९०५ में उपरोक्त पदार्थ पांच करोड पौंड मूल्य के जर्मनी में विदेश से आए। इतने मूल्य के पदार्थ उपनिवेशों में उत्पन्न करने की आप कल्पना कर रहे हैं। इस से ही यह मालूम हो सकता है कि आप कितने बड़े आशावादी हैं। परंतु आप की आशा सफल होने के कोई भी चिन्ह अब तक दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।

ऊपर जिन पदार्थों का उल्लेख किया है उनमें कपास ही अधिक महत्व का पदार्थ है। कपास उत्पन्न करने का प्रयत्न अफ्रीका के भिन्न भिन्न उपनिवेशों में बड़े जोर से किया जा रहा है। परंतु तो भी जर्मनी को एक वर्ष में जितना कपास चाहिए उसका एक हजारवाँ अंश भी उपनिवेशों में पैदा नहीं होता। कपास का व्यवसाय अभी एक नया व्यवसाय है। आगे चलकर कुछ वर्षों बाद अधिक पैदावार होने लगेगी। परंतु हाथी कहीं पहाड़ का मुकाबला कर सकता है!

उपनिवेशों की उपजाऊ भूमि के विषय में कुछ जर्मन लोगों की विलक्षण कल्पना है। वे लोग यह कहते हैं कि

"कुछ वर्षों के पश्चात् जितना चाहिए उतना कच्चा माल उपनिवेशों से प्राप्त हो सकता है। यह माल उपनिवेश निवासी अपने मातृ-देश को बहुत कम मूल्य पर दे सकेंगे! और उसके द्वारा बनाया हुआ पक्का जर्मन माल, सारे संसार में इतना फैल जायगा कि अन्य राष्ट्रों को जर्मनी के साथ मुकाबला करने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।" उपनिवेशों के कृषि कार्य में कितना ही कम खर्च करना पड़ता हो तो भी अनाज उत्पन्न करनेवाले लोग बाजार की उपरा चढ़ी में जितना अधिक से अधिक मूल्य मिलेगा उसकी अपेक्षा कम मूल्य पर अपना अनाज जर्मन व्यापारियों के हाथ बेच देंगे, यह विचार मन-मोदक खाने के समान प्रतीत होता है! हर डर्नबर्ग भी, इस विचार के सामने और कुछ नहीं देखते। पांच वर्ष के अंदर उपनिवेशों का व्यापार मातृ-देश के साथ तीस पौंड से बढ़कर एक करोड़ पौंड कैसे हो जायगा? यह उन्नति बहुत ही अधिक है, यह हमारा कहना नहीं है; परंतु उपनिवेशों के आज तक के अनुभव से यह कहना कठिन है कि यह अनुमान ठीक उतरेगा या नहीं। सन् १८८८ से १९०८ तक बीस वर्ष में जर्मन उपनिवेशों से माल की आमद और रवानगी एक करोड़ उनसठ लाख पौंड थी। अर्थात् एक साल में जर्मनी से स्विटजरलैंड सरीखे छोटे से देश में जितना माल जाता है उसकी अपेक्षा यह आमद और रवानगी दोनों प्रकार के माल से कम है। इसके अतिरिक्त जर्मनी के उपनिवेशों को जो माल उस समय से रवाना हुआ, उससे सरकारी इमारत महकमा,

फौज और फौजी अधिकारियों के काम लायक ही सामान था।

जर्मन उपनिवेशों की भविष्यत् में क्या दशा होगी इस विषय में अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब हम यहां पर उनकी वर्त्तमान स्थिति बतलाना चाहते हैं। यह स्थिति एक मनुष्य ने इस प्रकार वर्णन की है कि जहां की जमीन उपजाऊ है वहां की तो आबोहवा अच्छी नहीं है और जहां की आबोहवा अच्छी है वहां की जमीन उपजाऊ नहीं है! वर्त्तमान स्थिति का विचार करने के लिये कुछ उपनिवेशों को दो भागों में बांटना पड़ेगा। पहले भाग में सेटलमेंट स्वरूप के उपनिवेशों का समावेश किया जा सकता है और दूसरे में ट्रोपिकल-बगीचे-स्वरूप के उपनिवेशों का समावेश हो सकेगा। पहले भाग में नैर्ऋत्य अफ्रीका का कुछ भाग, पूर्वी अफ्रीका का ऊपरी प्रदेश और कुल टापुओं का समावेश होता है। इन सबों का विस्तार जर्मन राष्ट्र से दूना है। दूसरे भाग में पूर्वी अफ्रीका के बहुत से भाग, कमेरून, टोगो और न्यूगायना का समावेश होता है। इसका विस्तार जर्मन राष्ट्र की अपेक्षा अढ़ाई गुने से भी अधिक है। परंतु यूरोपियन लोगों के रहने योग्य आबोहवा के विचार से यह प्रदेश बहुत बुरा है। जर्मन उपनिवेशों का कुल विस्तार सन् १९०६ में २६, ५८, ४४९ वर्ग किलोमिटर (१ किलोमिटर=⅝ मील) है, और वहां की आबादी १,२१,१९,००० है। कियऊचाऊ को भी उपनिवेश मान कर सन् १९०६ में कुल उपनिवेशों की गोरी आबादी ५६६८ और नैर्ऋत्य अफ्रीका में

हैं उनमें इंग्लिश, फ्रेंच, इटालियन और आस्ट्रियन लोग भी हैं और अन्य लोगों में भी ये लोग थोड़े बहुत पाए जाते हैं।

टोगो उपनिवेश का खर्च वहां की आमदनी से पूरा होता है, बाकी उपनिवेशों को जर्मन साम्राज्य को धन से सहायता प्रदान करनी पड़ती है। सन १९०६-०७ में ४३,६२,५५० पौंड सहायता उपनिवेशों को दी गई। इसमें से ३२५३५५० पौंड तो नैर्ऋत्य-अफ्रीका में ही काम आगया क्योंकि उस अवसर पर वहां सैनिक खर्चा बहुत हो रहा था। परंतु अब यह खर्च दिनों दिन कम होता जा रहा है। अतएव साम्राज्य को दिनों दिन कम धन देना पड़ता है।

उपनिवेशों की खास आमदनी "कस्टम ड्यूटी" है अर्थात् बाहर से आनेवाले माल पर कर है। सन १९०६ में कर द्वारा कुल ४११०५० पौंड की आमदनी हुई। विदेश से आनेवाले पक्के माल पर से कर द्वारा इतनी आमदनी हुई, यह तो ठीक ही है, परंतु इससे एक बात का और पता चलता है कि वहां के लोगों को इस प्रकार के माल लेने की अभिरुचि पैदा हो रही है। इस कर की आमदनी अधिकतर शराब की आमद से बढ़ी है, यह दुःख की बात है। वहां शराब का व्यसन लोगों में खूब बढ़ रहा है और इस व्यसन से कुछ जातियों का तो नामोनिशान तक मिट गया है। इसके अलावा और भी भिन्न भिन्न प्रकार के कर हैं जिनसे उसी साल ९६,३५,००० पौंड की प्राप्ति हुई। कालोनियल सेक्रेटरी का विचार है कि उपनिवेशों का खर्च उपनिवेशों की ही आमदनी से पूरा किया जाय और इस विचार को पूरा

करने के लिये हर एक उपनिवेश को साम्राज्य से जितनी सहायता दी जानी हो उसे निश्चय कर देना चाहिए। इस निश्चित धन की सहायता से यदि खर्च पूरा न हो तो उपनिवेशों को अपनी जिम्मेदारी पर रकम लेनी चाहिए।

सन १९०५ में, उपनिवेशों का विदेशी व्यापार ९६५५००० पौंड का था। उसमें से ७०,२७,४०० पौंड का आयात और २६,२७,६०० पौंड का निर्गत था। आनेवाले माल में सरकारी सामान, रेलवे के काम में आनेवाला माल और इसी प्रकार की बहुत सी चीजें थीं। अतएव आयात की आमदनी को देखकर व्यापारोन्नति का स्वप्न देखना भूल होगी।

कई एक उपनिवेशों में बागों की आमदनी बढ़ाना संभव है। वर्तमान समय में, इसी ओर लोगों का ध्यान भी लगा हुआ है। परंतु इसमें अधिक हाथ पैर हिलाने की तुरंत गुंजाइश नहीं है क्योंकि गोरे किसानों को इस काम में जो कठिनाई है वह यह है, कि स्थानीय मजदूर नियमित रूप से काम नहीं करते। कुछ लोग तो अवश्य ऐसे पाए जाते हैं जो जी लगा कर काम करते हैं परंतु अधिकता आलसियों की ही है। उनका आलस्य दूर करने के उपाय में अबतक उन्हें सफलता नहीं मिली है।

पश्चिमी अफ्रीका के लोगों और कामेरून के लोग अब भी आलसी बने हुए हैं और मन लगा कर काम नहीं करते। वहां पर जी तोड़ कर मजदूर मेहनत नहीं करते। आबोहवा खराब और जमीन दलदली है; परंतु है उपजाऊ। पूर्वी अफ्रीका में अच्छे मजदूर मिल जाते हैं परंतु नैर्ऋत्य

अफ्रीका में मजदूरों के संबंध में जो कठिनाई आकर उपस्थित हुई है उसका दूर होना अभी संभव नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि हेरेरास जाति के जो लोग वहां मजदूरी का काम अच्छा करते थे उनका जर्मन लोगों ने नाश कर दिया है। इस कारण अब जमीन जोतने बोने योग्य अच्छे आदमी वहां नहीं मिलते। इन लोगों पर जर्मनी की इतनी अकृपा क्यों हुई, इसका इतिहास जानने योग्य है। परंतु उस ओर जाना हमारे उद्देश्य के बाहर है। अतएव हमें तो इसी बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि इन लोगों के अभाव में नैर्ऋत्य अफ्रीका का खेती का काम और कुछ दिनों तक ऐसी ही निकृष्ट दशा में रहेगा। इस प्रांत की आबोहवा सौम्य है। जमीन काफी और उपजाऊ है। जंगली चरागाहें बहुत हैं। इन सब बातों की अनुकूलता के कारण, मजदूरों की कठिनाई दूर होते ही नैर्ऋत्य अफ्रीका में बहुत अच्छी पैदावार होने लगेगी, यह जर्मन सरकार का विश्वास है। हर डर्नबर्ग के मतानुसार, यह प्रांत शीघ्र ही ब्रिटिश कनाडा की योग्यता का हो जायगा। इस अतिशयोक्ति के विचार को एक ओर रख कर, सच्ची स्थिति ऐसी जान पड़ती है कि इस प्रांत में यूरोपियन लोग बहुतायत से आकर निवास कर सकते हैं। वहां की आबोहवा उनके अनुकूल है और काम काज भी उन्हें वहां साधारणतः अच्छा मिल जायगा। परंतु इस प्रांत में कोई अच्छा बंदर नहीं है। वालफिश की खाड़ी व्यापार के योग्य है परंतु वह अंग्रेजों के अधिकार में है। बंदर की दृष्टि से स्वाकोपमंड स्थान अच्छा है। परंतु उसके सामने ही

बालू का एक विशाल पहाड़ है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये एक कंपनी बनाई गई है, परंतु उसने अबतक कितना काम किया है, यह मालूम नहीं हुआ।

उपनिवेशों में कृषि ही प्रधान व्यवसाय है। अतएव कृषि का सुधार करके सांपत्तिक उन्नति करने का और कोई भी उपाय ही नहीं है। और यदि कृषि की जाय तो वह बढ़े हुए पैमाने पर ही की जाने से लाभदायक साबित हो सकती है। छोटे पैमाने पर खेती करने से लाभ की कोई संभावना नहीं है। अतएव जिनके पास काफी धन मौजूद है, वे ही इस काम को अच्छी तरह कर सकते हैं। कम से कम एक आदमी के २५,००० एकड़ भूमि पर खेती करने से नैर्ऋत्य अफ्रीका में लाभ हो सकता है। अतएव जिसके पास पांच सौ से लेकर ढाई हजार पौंड तक लगाने के लिये मौजूद हो, उसी को वहां जाकर खेती करने की इजाजत दी जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि उपनिवेशों से कितने लोगों को लाभ पहुँच सकता है! फिर बताइए, यह प्रांत बृटिश कनाडा के मुकाबले का शीघ्र ही हो जायगा, यह बात कलोनियल सेक्रेटरी साहब की बुद्धि में कहां से समा गई, वे ही जानते होंगे!!

उपनिवेशों की उन्नति में एक और कठिनाई है। वह कठिनाई सड़कों और रेलों की है। विदेश जाने योग्य माल को ले जाने के लिये उपयुक्त साधन न होने से, नीग्रो लोगों के सिरों पर लाद कर माल पहुँचाना पड़ता है। हाथीदांत, रबड़, और मोम को ले जाना सहज है और इन पदार्थों से लाभ भी

अच्छा होता है परंतु ये पदार्थ जितने चाहिए उतने नहीं मिलते। पूर्वी अफ्रीका में तो माल ले जाने की कठिनाई बहुत ही अधिक हैं। सन् १९०८ में राइश्टाग ने यहां ९०० मील रेलवे लाइन बनाने की मंजूरी दी। यह रेलवे छ सात वर्ष में बन कर तैयार होगी। बृटिश अफ्रीका में जिस हिसाब से रेलवे बनाई गई है उसकी अपेक्षा जर्मन रेलवे वहां बहुत कम हैं। परंतु "अकरणान्मंदकरणं श्रेयः" इस सिद्धांत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जो कुछ किया गया है, वह ठीक ही है।

इस अध्याय और गत अध्याय में जो बातें जर्मन उपनिवेशों के संबंध में कही गई हैं, उन पर ज़रा शांति के साथ विचार करने से यह बात अवश्य प्रतीत होगी कि देश की बढ़ती हुई प्रजा और व्यवसाय वाणिज्य के लिये उपनिवेशों की उत्तम व्यवस्था और उचित सुधार करना, जर्मन लोग अपना कर्तव्य समझते हैं और अपने इस कर्तव्य पालन के लिये वे प्रयत्न भी बराबर कर रहे हैं। "वर्ल्ड पालिटिक" की लहरें इसी लिये तो लहरा रही हैं। इस प्रयत्न से इसका कोई संबंध नहीं यह कोई नहीं कह सकता। परंतु हमारे विचार से इस उद्योग और प्रयत्न का मुख्य उद्देश्य यह है कि जर्मनी को नया बाजार हाथ आना चाहिए और यह उद्देश्य हर प्रकार से योग्य और दूर दृष्टि पर ध्यान रख कर स्थिर किया गया है, यह बात हर कोई सहज ही स्वीकार कर सकता है। अपने देश में ही जिनकी जीविका का कोई साधन नहीं रहा, उन्हें स्वदेश त्याग कर उपनिवेशों में जाकर, स्थायी

रूप से वास करना चाहिए। शायद राजकार्यप्रवीण पुरुषों के ध्यान में आज कल ये विचार न उत्पन्न होते हों क्योंकि अभी तक उपनिवेशों में रहने के लिये अनुकूल साधन नहीं हैं। अफ्रीका और पैसिफिक महासागर में जो प्रदेश जर्मनों के अधिकार में हैं, उनको अभी "उपनिवेश" संज्ञा देना ही उचित नहीं है, क्योंकि यह केवल वाक्छल है। इन प्रदेशों को "संरक्षक-प्रदेश" (Protecterotes) अथवा "व्यापार के लिये प्रदेश" (Trading settlemens) नाम दिया जाय तो बहुत उचित होगा, क्योंकि उपनिवेश कहलाने योग्य अभी तक उन प्रांतों में योग्यता नहीं है और इसी कारण यूरोपियन लोग अब तक वहां पर कहीं भी, घर बार बना कर स्थायी रूप से नहीं रहे।

कारखानों में बना हुआ पक्का माल बेचने के लिये नए बाजार को हस्तगत करना अथवा सारे संसार भर में जर्मनी की सत्ता स्थापित कर के इंग्लैंड के मुंकाबले में उसे लाना, इन दो उद्देश्यों में से कौन मुख्य है और कौन गौण, अथवा दोनों मुख्य हैं, वाद विवाद के लिये कुछ भी मान लो; परंतु उपनिवेशों के आंदोलन में जो आश्रय अथवा सहायता लोगों से वर्तमान समय में प्राप्त हो रही है, वह भविष्यत् में भी मिलती रहेगी, यह अभी कहा नहीं जा सकता। परंतु उपरोक्त कारणों के अलावा एक और बलवान कारण है, उसे ध्यान में लाने से यह प्रतीत होता है कि लोगों का उत्साह अंत समय तक बना रहेगा। उपनिवेशों की उन्नति पर ही जर्मन राष्ट्र का वैभव अवलंबित है, ऐसा चिल्लाने पर भी जिनके मन पर कुछ भी अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा, ऐसे हजारों

नहीं लाखों लोग आरंभ से जर्मनी में थे। परंतु उपनिवेशों के उद्योग में ही बहुत से जर्मन लोग गत दस पंद्रह वर्ष में कराल काल के गाल में चले गए, इस बात का विश्वास उनको करा देने पर वे लोग चौकन्ने हो गए और अपने काम में जो अब तक उदासीनता दिखाते थे वे अब यह कहने लगे—"जिस जमीन पर जर्मनी के अनेक पुत्र कराल काल के गाल में चले गए और जिस पृथ्वी के उदर में वे आज कल अखंड निद्रा-सुख का अनुभव ले रहे हैं, वह पृथ्वी अब और लोगों की नहीं, हमारी है। अतएव उसका सुधार करना और सदा उसकी चिंता रखना, यह हमारा श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।" ये विचार अफ्रीका के सारे प्रदेशों के संबंध में सच्चे हैं। परंतु नैऋत्य अफ्रीका के संबंध में तो अक्षरशः सत्य हैं और इस से स्वदेशाभिमानी जर्मन लोगों के मन में, उपनिवेशों के संबंध में कैसी मनोभावना जागृत हुई है, यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ जायगी। जर्मनी में जो भिन्न भिन्न संस्थाएं हैं, उनके एकीकरण करने को मनुष्य का रक्त और लोह के अस्त्र शस्त्र जिस प्रकार कारणीभूत हुए हैं उसी प्रकार ये उपनिवेशों के भिन्न भिन्न प्रांतों को एकीकरण करने में भी कारणीभूत हुए हैं। अतएव जो प्रांत अपार प्राणहानि उठाकर प्राप्त किए गए हैं उनको अपने हाथ से निकल जाने देना, राष्ट्र की मानहानि करना है। लोगों के इन विचारों का यह परिणाम हुआ है कि जर्मन राष्ट्र के भिन्न भिन्न राजकीय पक्ष के लोग, आपस का भेदभाव भुलाकर, एक मत से, इस आंदोलन को सहायता पहुँचा रहे हैं। वे लोग "जर्मन कलोनियल

सोसाइटी" सरीखी संस्थाएं स्थापित करते हैं। उनमें से कुछ लोग यह भी कहनेवाले हैं कि उपनिवेशों से राष्ट्र को सांपत्तिक लाभ कुछ नहीं हुआ तो कुछ हर्ज नहीं; परंतु वहाँ के लोगों का सुधार करना, यह अपना उद्देश्य होना चाहिए। सोशियालिस्ट लोग पहले यह कहा करते थे कि "उपनिवेशों को बढ़ाओ" ऐसा कहनेवाले देश में खास कर धनाढ्य लोग हैं और उनकी न शांत होनेवाली धन-तृष्णा ही, इस आंदोलन का मूल है। परंतु उनमें भी जो लोग नरम (Moderate) थे, उन्हें यह आरोप स्वीकार न था। मनुष्य जाति का सुधार करना ही सोशियालिस्ट—साम्यवादियों—का मुख्य उद्देश्य है। नीग्रो लोगों के समान कुबुद्धि और हीन-दशा-प्राप्त लोगों का, अपने द्वारा जो सुधार हो सके, उसके लिये पीछे न रहना यह पक्ष ले कर 'गरम दल' के नेताओं से वादविवाद आरंभ कर दिया। उस वादविवाद का परिणाम भी अच्छा हुआ। उपनिवेशों के संबंध में अब उनमें आपस में कोई झगड़ा नहीं रहा। अपने प्रतिपक्षी के साथ मिलकर राष्ट्रीय आंदोलन को सफल बनाने के काम में वे दत्तचित्त होकर काम कर रहे हैं। परंतु उनका मुख्य कथन यह है उपनिवेशों के आदिम निवासियों के साथ गोरे लोगों को सहृदयतापूर्वक बर्ताव करना चाहिए और उनकी मानसिक और सांपत्तिक उन्नति का प्रयत्न सचाई के साथ किया जाना चाहिए। हमने जो ऊपर एक प्रबल कारण बताया था, उसका प्रभाव कैसा है, यह सोशियालिस्ट लोगों के उदाहरण से ही पाठकों के ध्यान में आ गया होगा।

अपने पड़ोसी राष्ट्र ने उपनिवेशों के संबंध में जो उद्योग आरंभ किया है, इस संबंध में इंग्लैंड को कौन सा मार्ग स्वीकार करना चाहिए, यह निश्चय करना कठिन है। सन् १८८५ में, इंग्लैंड से इस काम में जर्मनी से पहली बार जब खटपट हुई, उस समय मि० ग्लैडस्टोन ने इंग्लैंड को किस मार्ग को पकड़ना चाहिए, इसका उल्लेख इस प्रकार किया था— "हमारी ढाल को लटकाने के लिये कील ठोकने को जहां आराम की जगह मिलेगी वहीं कील ठोकने में हम ज़रा सी भी देरी न करेंगे।" इसी प्रकार के वाक्य एक बार जर्मन सम्राट् ने कहे थे, यदि यह बात सच है तो यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो उद्योग और राष्ट्रों ने सौ वर्ष पहले करके यश प्राप्त किया था वह उद्योग अब जर्मनी पच्चीस तीस वर्ष से करने लगी है। अर्थात् ढाल लटकाने योग्य कील ठोकने के लिये जितनी आराम की जगह संसार में थी, उतनी अन्य राष्ट्रों ने पहले ही अपने हाथ में कर ली! सारा संसार जर्मनमय होना चाहिए, ऐसी आशा करनेवाले लोगों की बातों में यदि कुछ अर्थ है तो अन्य राष्ट्रों को उससे भयप्रद अर्थ निकालना उचित होगा, परंतु जब तक सारे जर्मन राष्ट्र के ऐसे विचार न हों तब तक भय करने का कोई विशेष कारण नहीं है। मित्रता के नाते से जो जर्मनी को सहायता देना पसंद न करते हों, वे सहायता न दें परंतु "तुम्हारी चाल हमें पसंद नहीं अतएव हम उस बीच में पड़ना नहीं चाहते" यह कह कर तटस्थ वृत्ति स्वीकार करना कुछ अनुचित न होगा। तटस्थ राष्ट्रों को यह बात ध्यान में रखनी

चाहिए कि सन् १८८१ में जब फ्रांस ने मोराक्को का मामला उपस्थित किया उस समय प्रिंस बिस्मार्क ने बिलकुल शांत वृत्ति धारण कर ली थी। आपने ऐसी वृत्ति क्यों स्वीकार की ऐसा जब लोगों ने उनसे पूछा तब उन्होंने यही उत्तर दिया—"उपनिवेशों के संबंध में फ्रांस जितना ध्यान देता है उतना ही जर्मनी को लाभ है !" अर्थात् इस प्रकार के कामों में तटस्थ वृत्ति धारण करना प्रिंस बिस्मार्क को भी स्वीकार था, यह बात स्पष्ट प्रगट होती है।

बीसवाँ अध्याय।

साम्राज्य का खर्च।

परम लोकसत्तावादी लोगों को निकाल कर जर्मनी के अन्य सब राजकीय पक्ष के लोगों की दशा बहुत कठिन हो रही है। उनके कथन और कार्य में बहुत कुछ अंतर दिखाई पड़ने लगा है। साम्राज्य का जिस कार्य से हित होता है उस कार्य में उनका एकमत अवश्य है परंतु इस कार्य संपादनार्थ जो खर्च होता है, उसके खर्च करने में वे आगा पीछा करते हैं। इस कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये विशेष करों को लगाने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं दिखाई पड़ता; यही सब लोग कहते हैं। परंतु यह कर किस वस्तु पर लगाया जाय, इस बात पर मतभेद रहता है। सैनिक खर्च दिनों दिन बढ़ता जा रहा है और उस खर्च का बोझा उठाने के लिये जो नए नए कर लगाए गए हैं, उन्हें वे अब तक सहन करते आ रहे हैं। विदेशियों के साथ जर्मनी का व्यवहार उच्च कोटि का होना चाहिए, यह जर्मन लोग चाहते हैं। परंतु इस उच्चता के लिये अधिक धन खर्च करने की आवश्यकता पड़ती है, और धन खर्च करने को वे तैयार नहीं हैं। कर देनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की ओर से इस प्रकार की बातें निकलती हैं, यह बात नहीं है वरन जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित हुए प्रदेश अथवा रियासतें भी जो सदा यह कहती रहती हैं कि साम्राज्य के

खर्च में जो कुछ कमी होगी, उसे हम पूरा करेंगे, वे भी साम्राज्य के बढ़े हुए खर्च को देख कर उसका रोना रोने लगते हैं।

साम्राज्य की स्थापना होने के समय से कुछ वर्षों तक तो देश में सर्वत्र शांति रही। इस कारण लोगों की खर्च के विषय में जो कल्पना थी, उसकी अपेक्षा अब कितना अधिक खर्च बढ़ गया है और आरंभ में जहां राष्ट्रीय ऋण की गिनती लाखों पर थी वह अब करोड़ों पर पहुंच गई है। साम्राज्य की स्थापना होने के कुछ वर्ष बाद तक भी प्रति वर्ष एक करोड़ पचहत्तर लाख पौंड खर्च था परंतु अब यदि किसी से यह कहा जाय तो उसे इतने कम खर्चे का विश्वास न होगा। इस रकम में से एक चौथाई से एक तिहाई तक तो विदेश में आनेवाले माल पर कस्टम ड्यूटी (Custom duty) और तंबाकू पर कर लगा कर वसूल की जाती थी। आधी रकम शक्कर, नमक, वियर और स्पिरिट पर देश में ही एक्साइज ड्यूटी (Excise duty), स्टांप, पोस्टेज और रेलवे की आमदनी से वसूल होती थी। पच्चीस से लेकर पैंतीस लाख तक साम्राज्यांतर्गत रियासतें सार्वभौम सरकार को प्रदान करती थीं। परंतु कुछ वर्षों बाद ही खर्चा बढ़ने लगा। सन १९०८ में वह इतना अधिक बढ़ गया कि उस साल के बजट में खर्चे की रकम का अंदाजा बारह करोड़, सोलह लाख पौंड किया गया। गत बीस वर्षों में आबादी तो तीस फी सदी के हिसाब से बढ़ी परंतु खर्च बढ़ा दो सौ तीस फी सदी ! अर्थात् ढाई गुने से कुछ ऊपर।

सैनिक विभाग के अतिरिक्त सिविल सर्विस विभाग की भिन्न भिन्न शाखाओं में दिनों दिन अधिक खर्च हो किसी भी राज्य में अनिवार्य है और इसी प्रकार यदि जर्मनी में भी खर्च बढ़ा तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । परंतु इतने से खर्च की रकम इतनी अधिक नहीं बढ़ सकती। इस खर्च बढ़ने के लिये और भी कुछ कारण होने चाहिएँ; और वे कारण और कुछ नहीं सेना और लड़ाई के जहाजों की वृद्धि है । उपनिवेशों को स्थापित करने का उद्योग आरंभ करने से, इन दोनों की अपेक्षा अधिक धन खर्च होने लगा है। सन १८८० अर्थात् इस उद्योग का आरंभ होने से पहले स्थल और जल सेना दोनों को मिलाकर केवल २,३०,००,००० पौंड खर्च होता था । सन् १९०० में ३,५०,००,००० पौंड के अंदर ही खर्च रहा । परंतु सन् १९०८ में यह खर्च बढ़ कर ५,१०,००,००० पौंड हो गया। स्थल सेना की अपेक्षा जल सेना की तैयारी में अधिक खर्च होता रहा। सन १९०० में यह निश्चय किया गया कि समुद्री शक्ति बढ़ाने में अब इससे अधिक खर्च न बढ़ाया जाय। इसके बाद सन १९०८ तक तो बराबर एक करोड़ पचहत्तर लाख पौंड खर्च होता रहा परंतु अब यह खर्च और भी अधिक बढ़ गया है। जर्मन साम्राज्य का इतना विशाल खर्च अप्रत्यक्ष रूप से केवल उपनिवेशों को बढ़ाने के कारण ही हो रहा है । आज से तीस वर्ष पहले उपनिवेश विभाग ही न था । उपनिवेश विभाग के स्थापित होते ही खर्च करने के अनेक मार्ग दिखाई पड़ने लगे और सन १९०८ में उपनिवेशों का खर्च बत्तीस लाख पचास

हजार पौंड तक पहुंच गया। यह खर्च कितना अधिक है, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

साम्राज्य का खर्च इसी प्रकार दिनों दिन बढ़ता जायगा इसके चिह्न अब भी दिखाई पड़ रहे हैं। सन् १९०४ में, जर्मन अर्थसचिव, बैरन वान स्टेंजल ने राइश्टग में कहा था कि "भविष्य के लक्षण मुझे अच्छे नहीं दिखाई पड़ते, यह मैं सभासदों से स्पष्ट कह रहा हूँ और जिस प्रकार आज कल आप अपना खर्च कर रहे हो यदि इसी प्रकार भविष्यत में भी खर्च किया जायगा तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है, यह बात मैं आप लोगों से खुले दिल से कह रहा हूँ।" तीस पैंतीस वर्ष पहले जर्मनी पर बिलकुल ऋण न था। सन् १८७६ और ७७ में ऋण लेने का पहले पहल आरंभ हुआ। उस समय से सन् १९०८ तक बराबर कर्जा बढ़ता ही गया। सन् १९०८ में जर्मन राष्ट्रीय ऋण बीस करोड़ पौंड था। इस धन पर कितना अधिक सूद देना पड़ता होगा, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं। जर्मन अर्थ-सचिव ने कुछ साल हुए तब यह भी कहा था कि—"ऋण लेने में हम लोग सब राष्ट्रों से आगे हैं, यह कितने दुःख की बात है। फ्रांस और इंग्लैंड भी इस काम में हम से पीछे हैं। जिस समय फ्रांस ने अधिक राष्ट्रीय ऋण नहीं लिया था उस समय भी हमारा राष्ट्रीय ऋण उससे दस गुना अधिक था। इस ऋण के कारण राजनैतिक और सांपत्तिक दृष्टि से जर्मनी की सारे संसार में बदनामी हुए बिना न रहेगी।" जर्मनी में राष्ट्रीय-ऋण प्रति मनुष्य पर तीन पौंड चार शिलिंग है।

इसके अतिरिक्त प्रांतों अथवा रियासतों पर जिसका तिसका कुछ न कुछ कर्ज है ही। परंतु इस ऋण के संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह ऋण जिस प्रांत पर है उस प्रांत ने उसे किसी न किसी उपयोगी काम के लिये लिया है। इस काम के सामने कर्जे का बोझा हलका नजर आता है जैसे किसी प्रांत ने रेलवे बनाने अथवा खानों को खोदने के लिये कर्जा लिया तो उस कर्जे के मुकाबले में उस काम से विशेष लाभ पहुँचता रहता है। साम्राज्य और प्रांतों का मिला हुआ जो ऋण है, उसका आधा रेलवे बनाने के लिये लिया गया है और उस रेलवे से होनेवाले लाभ से ऋण चुका देने की व्यवस्था की गई है।

बीस पचीस वर्ष पहले, जो राष्ट्रीय ऋण था, वह अब बहुत बढ़ गया है। अतएव साम्राज्य का दिवाला निकलने का समय अब समीप आ गया है, यदि कोई यह कहे तो यह उसकी भूल है। सच बात यह है कि अपने खर्च का अंदाजा न कर के साम्राज्य सरकार ने विदेश से बहुत बड़ी जिम्मेदारी के काम अपने ऊपर ले लिए हैं और उस काम में कल्पना की अपेक्षा जब अधिक खर्च होने लगा तब सरकार को बड़ी चिंता उत्पन्न हुई। जब सरकार की यह दशा हो गई तब लोगों ने भी सरकारी काम की निंदा आरंभ कर दी और कुछ विचारशून्य पुरुष यह भी कहने लगे कि राष्ट्र का अब दिवाला निकलना ही चाहता है। यदि सरकार ने पहले से ही विचारपूर्वक काम किया होता तो प्रति वर्ष बजट में जो घाटा पड़ता है, वह न पड़ता। परंतु इतने से ही जर्मनी की

आर्थिक स्थिति बिलकुल बिगड़ गई है, यह कहना उचित नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि साम्राज्य के अंतर्गत जो प्रांत हैं, वे बहुत धनाढ्य हैं। उनकी साख पर साम्राज्य की साख अथवा स्थिरता को रत्ती भर भी हानि नहीं पहुँच सकती— कुछ प्रांत ऋणी अवश्य हैं, यदि यह कोई आक्षेप करे तो उसके लिये इतना ही उत्तर है कि तुम ऋण की ओर न देखो, उस ऋण की सहायता से उस प्रांत ने अपने पास कितना धन (विशाल और अटूट कारखानों के रूप में) इकट्ठा कर लिया है, उसकी ओर देखो! धन के कारण साम्राज्य को जो सदा कठिनाई का सामना करना पड़ता है, उसका मुख्य कारण यह है कि आवश्यकता से अधिक धन उसके हिस्से में कभी नहीं आता। उसकी आमदनी का जरिया बढ़ता है, यह सच है, तो भी, जितनी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं, उनको पूरा करने के लिये वह काफी नहीं है। प्रांतिक सरकारें कंजूसी से काम निकालती हैं और निश्चित किए हुए धन से अधिक धन साम्राज्य सरकार को देना नहीं चाहतीं।

साम्राज्य की आमदनी के जरिये नीचे लिखे हुए हैं— सार्वभौम रेलवे, डाक, तार, कस्टम, एकसाइज, स्टांप और कई एक छोटी मोटी रकमें। कर द्वारा जो आमदनी होती है, उसे, निश्चित किए हुए धन की अपेक्षा अधिक धन प्राप्त होने पर भिन्न भिन्न प्रांतों को उनकी आमदनी के हिसाब से बांट दी जाती है। और यदि खर्चे में कमी हुई तो साम्राज्य सरकार को प्रांतिक सरकार के सामने अपना हाथ पसारना पड़ता है।

साम्राज्य की आमदनी खास तौर पर विदेशी माल के 'कर' द्वारा प्राप्त होती है। देश के व्यवसाय और वाणिज्य की उन्नति के लिये यह कर समय समय पर बढ़ता रहता है। छत्तीस वर्ष पहले की आमदनी की अपेक्षा अब यह आमदनी छः गुनी बढ़ गई है। सन १९०६ में कर द्वारा कुल आमदनी ६६,७७,६०,००० मार्कस (२०'४ मार्कस=१ पौंड) थी। यह कर जब आरंभ में पहले पहल लगाया गया था तब उसे बचा कर रखने का विचार न था। साम्राज्य का खर्च चलाने के लिये प्रांतों के आगे हाथ पसारना न पड़े और लोगों को प्रत्यक्ष कर भी न देना पड़े, ये दो बातें सोच कर प्रिंस बिस्मार्क ने यह युक्ति ढूंढ निकाली थी।

आमदनी का दूसरा द्वार देश में ही लगाया हुआ कर है। यह कर भी समय समय पर बहुत बढ़ाया गया है। सन् १८७२ में यह आमदनी बत्तीस लाख पचास हजार पौंड थी परंतु धीरे धीरे जैसे आबादी बढ़ती गई वैसे ही खाने पीने के सामान की खपत बढ़ती गई। अधिक सामान की खपत होने से कर द्वारा आमदनी भी बढ़ती गई। अब आज कल यह आमदनी दो करोड़ पौंड है।

साम्राज्य के जमा खर्च को व्यवास्थित स्वरूप सन् १९०० ईसवी में दिया गया। उस समय वसूल करने योग्य और भी अनेक बातें पाई गईं। परंतु जल सेना विभाग का खर्च अधिकाधिक बढ़ जाने के कारण नई आमदनी से भी पूरी न पड़ी। इससे यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि यदि साम्राज्य का खर्चा आज कल के समान ही बराबर बढ़ता गया तो

जमा खर्च के काम में सदा के लिये कोई नई व्यवस्था करनी पड़ेगी। तात्कालिक उपाय कुछ भी किए जाँयगे, उनसे काम चल नहीं सकेगा।

प्रजा पर प्रत्यक्ष (Direct) कर लगाया जाय अथवा अप्रत्यक्ष (Indirect) यह वादविवाद जब से जर्मन साम्राज्य स्थापित हुआ है तब से चल रहा है। परंतु हर साल साम्राज्य को धन की कमी पड़ने के कारण वर्तमान समय में, इस प्रश्न ने और भी जोर पकड़ा है। कंसरवेटिव पक्ष के लोगों का कहना यह है कि खर्चे की कठिनाई दूर करने के लिये यदि कर लगाने की आवश्यकता हो तो अधिक कर लगाया जाय, परंतु लोगों पर प्रत्यक्ष कर न लगाया जाय। रेडिकल और सोशल डेमोक्रेसी पक्ष के लोगों का कहना यह है कि संरक्षण कर लगाने की अपेक्षा, जिस प्रकार सब लोगों पर खर्च का बोझ समान पड़े, ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष कर लगाना बहुत उचित होगा। उन लोगों की राय है कि इंपीरियल आमदनी पर कर (Imperial Income-tax) लगाने में ही इष्ट कार्य की सिद्धि हो सकती है। परंतु इस विषय में, सरकार अभी तक कंसरवेटिव पक्ष के लोगों के अनुकूल है। संयुक्त राज्य अमेरिका और स्वीटज़रलैंड में, अप्रत्यक्ष कर लगाने की पद्धति आज अनेक वर्षों से जारी है। जर्मन साम्राज्य का मत है कि उसे भी वही मार्ग स्वीकार करना चाहिए और प्रत्यक्ष कर लगाने के झंझट में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। खजाने के सेक्रेटरी साहब ने एक अवसर पर यह कहा था—"साम्राज्यांतर्गत सब प्रांतों की यही राय है।

साम्राज्य के खर्च के लिये अप्रत्यक्ष कर सार्वभौम सरकार लगाती है और भिन्न भिन्न प्रांतों को प्रत्यक्ष कर लगा कर उसकी आमदनी से साम्राज्य की आमदनी को सहायता पहुँचाई जाती है।

रेडिकल पक्ष के लोगों का कथन है कि सार्वभौम इनकम-टैक्स लगाना वर्तमान दशा में अनुचित है। प्रांतिक प्रजा को प्रांत के उपयोग के लिये एक, और जिस गाँव अथवा शहर में वह रहता है, उसके उपयोग के लिये एक, इस प्रकार दो कर देने पड़ते हैं। अब यदि तीसरा कर उसी स्वरूप का उस पर लगा दिया जायगा तो वह कर उसे असह्य हुए बिना न रहेगा। भिन्न भिन्न प्रांतों में आमदनी पर जो कर लगाया गया है वही आमदनी का मुख्य द्वार है और इस करके द्वारा ही उस प्रांत का बहुत सा खर्च चलता है। ऐसी दशा में यदि सार्वभौम इनकम-टैक्स का भार और भी अधिक डाला गया तो उनकी स्वतः की आमदनी में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाँयगी और जब प्रांतिक सरकारों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा तो साम्राज्य सरकार की क्या दशा होगी, यह सोचने की बात है! अतएव ऐसी दशा में दूसरा कोई भी कर लगाने की सम्मति राइखटग दे सकती है परंतु आमदनी पर टैक्स लगाने के लिये अभी कुछ वर्षों तक वह अपनी सम्मति देने को राजी न होगी; यह बात स्पष्ट है। परंतु इससे कोई यह न समझ ले कि साम्राज्य सरकार कभी भी यह कर लगाने को तैयार न होगी। संरक्षित व्यापार की अपेक्षा अप्रतिबद्ध व्यापार नीति को स्वीकार कर लेने पर, कर और कस्टम द्वारा आमदनी कम हो जाने पर

आमदनी पर टैक्स लगा हुआ ही समझना चाहिए। परंतु यह कर कम हो सकता है अथवा नहीं यह विचार करने पर यह पाया जाता है कि कृषि और व्यवसाय वाणिज्य की रक्षा करने का उद्देश्य यदि क्षण भर के लिये एक ओर रख दिया जाय तो भी आज बहुत वर्षों से एक्साइज के रूप में जो अप्रत्यक्ष कर वसूल किया जाता है, उसे एकदम बंद करना कठिन होगा और साम्राज्य का खर्च चलाने के लिये एक्साइज ड्यूटी पूरी पूरी वसूल ही होनी चाहिए। वर्तमान कर वसूल करने की दर कम करने से क्या कभी काम चल सकता है? तात्पर्य यह है कि आमदनी पर टैक्स लगाने के दिन अभी दूर हैं। परंतु वे दिन कितनी दूर हैं, यह अभी कहना कठिन है।

इक्कीसवां अध्याय।

साम्राज्य की अनुकूल और प्रतिकूल स्थिति।

सन् १८७१ में स्थापित हुआ साम्राज्य स्थायी होगा अथवा नहीं, इस विषय में जर्मनी के राजकीय पक्ष, खासकर उत्तर जर्मनी और बर्लिन राजधानी में, सदा वाद-विवाद होता रहता है। सार्वभौम सरकार (सम्राट, चांसलर और स्टेट सेक्रेटरीज) और राइश्टाग में विरोधी पक्ष के लोग इस वादविवाद को बहुधा लाकर उपस्थित करते हैं। ऐसे वादविवाद के अवसरों पर दिए हुए भाषणों में साम्राज्य संबंधी जो तर्क वितर्क होते हैं उनका कितना मूल्य अथवा महत्व है, इस बात का पता चल जाता है। जर्मनी में एक भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो यह समझता हो कि जर्मन साम्राज्य कभी नष्ट हो जायगा अथवा उसका कुछ भी अहित हो सकता है। सन् १८७१ के पहले देश की जो दशा थी उस दशा में देश का पुनः जाना असंभव है। राजनीति विशारद लोगों का यही मत है। परंतु जर्मन राष्ट्र में कुछ खास लोग हैं जिनके मत में अब तक साम्राज्य संबंधी प्रेम कभी उत्पन्न नहीं हुआ। सन् १८४८ में जब फ्रांस में राज्य-क्रांति हुई तब संयुक्त-जर्मन निर्माण करके प्रजा सत्तात्मक राज्य स्थापित करने का कुछ "बेजवाबदार" लोगों ने प्रयत्न किया था परंतु प्रशिया के जमीदारों ने यह प्रयत्न सफल नहीं होने दिया। पश्चात सन् १८७१ में जब साम्राज्य की स्थापना

हुई तब प्रशिया के कंसरवेटिव जमींदारों ने उसे मजबूर होकर स्वीकार किया। परंतु उनके मन में साम्राज्य संबंधी प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ, और यदि देश को हानि न पहुँचे तो साम्राज्य को नष्ट करने में, ये लोग अब भी पीछे पैर हटाने-वाले नहीं हैं। स्वयं जर्मनी के राजा, पहले विलियम अपने को "जर्मन सम्राट्" कहलाने की अपेक्षा होहन्‌ज़ोलर्न राजघराने का नेता कहलाने में अभिमान और अपनत्व समझते थे, क्योंकि सम्राट पद के साथ साथ साम्राज्य के सारे प्रदेशों अथवा रियासतों का स्वामित्व उसे नहीं प्राप्त हुआ था। प्रिंस बिस्मार्क ने अपने "रिकलक्शन (Recollections) में लिखा है—"जर्मनी के अन्य प्रदेशों और राज-घराने की एकता की भावना को लाने में हमें जितना प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ा उससे कहीं अधिक प्रशिया की इस भावना को दूर करने में, करना पड़ा। और सम्राट पहले विलियम के साथ तो प्रजा का नाता होने के कारण, इस काम में, समय समय पर अतिशय दुःख उठाना पड़ा है। अपने घराने के विषय में, सम्राट का मत, अभिमान से ओत प्रोत हो रहा था और सारे जर्मन राष्ट्र के सुधार के प्रश्न के उपस्थित होते ही, यह अभिमान बीच में आकर उपस्थित हो जाता था। परंतु जर्मन राष्ट्र का हित ही अपने राज्य प्रशिया का हित है, जब यह बात उनके ही ध्यान में आ जाती तो फिर वह अपना अभिमान भुला कर राष्ट्रहित के महत्वपूर्ण कार्यों में उत्तेजना देने में कोई कसर भी उठा न रखते थे।" इसी प्रकार की और भी अनेक बातें, इस संबंध में प्रिंस बिस्मार्क ने लिखी हैं।

एल्ब नदी के पूर्वी भाग के जमींदारों के मन में साम्राज्य विषयक निष्ठा जरा कम होने का मुख्य कारण, केवल राजघराने का अभिमान ही नहीं है वरन यह भी है कि साम्राज्य की रचना उदार तत्वों को सम्मुख रख कर नहीं की गई है और इससे उनका महत्व कम हो गया है। अतएव ये लोग राइश्टाग में निर्वाचन के अधिकार और भिन्न भिन्न पक्षों के हाथ में दी हुई सत्ता को कम करने का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने में संकोच नहीं करते। भिन्न भिन्न पक्ष के लोग एक होकर संयुक्त सरकार के साथ जब वादविवाद करने लगते हैं तब सरकार को उनकी बातें सुननी पड़ती हैं। यह दशा अच्छी नहीं है अतएव इसके सुधार के लिये सरकार को वे उपरोक्त दो बातें बताया करते हैं।

जर्मन राष्ट्र के सब लोगों को, फिर वे चाहे किसी पक्ष के हों, कभी न कभी अपने ऊपर अविश्वास उत्पन्न हो ही जाता है और एक प्रकार की घबराहट उनमें पाई जाती है, यह सच है। परंतु इस बात को अधिक महत्व देना भूल है। जर्मन साम्राज्य अब सुदृढ़ हो गया है और अब उसे किसी का भय नहीं है। समस्त देश में ही उस पर किसी प्रकार का संकट आने की संभावना नहीं है। यदि परचक्र में फँस जाने का अवसर आजाय तो उससे निकल जाने की शक्ति भी उसमें मौजूद है। यह बात जर्मन लोग अच्छी तरह जानते हैं। परंतु कभी कभी वे, ये सब बातें भूल भी जाते हैं। वास्तव में किसी प्रकार का रोग न होने पर जब कोई यह समझने लगता है कि मैं रोगी हूं और यह सोच कर वह

घबरा जाता है, बस, उसी प्रकार जर्मन भी कभी कभी, बिना कारण घबरा जाते हैं। और इसी कारण जर्मन लोगों का राष्ट्रीय तेज जितना प्रकाशमान होना चाहिए उतना दिखाई नहीं पड़ता। परंतु निराशावाद क्रमशः कम हो रहा है। वर्तमान भ्रम को मेट देना और फ्रांस के साथ युद्ध होने के पहले राज्य में जो गड़बड़ी मची हुई थी, उसे दूर करने का प्रयत्न प्रत्येक जर्मन तन, मन, धन से कर रहा है।

जर्मन राष्ट्र में अब उच्चकोटि की स्थिरता और एकता आगई है, यह बात जान लेना बहुत जरूरी है, क्योंकि इन बातों के मालूम हो जाने से एक और विशेष बात के प्रतिपादन करने में आसानी होगी। जर्मनी में प्रत्येक मनुष्य को, आज से चालीस वर्ष पहले, वरसेल्डिस में साम्राज्य स्थापना की घोषणा प्रसिद्ध किए जाने पर जो उत्साह था और हर एक मनुष्य अपने को साम्राज्याभिमानी (Imperialist) समझता था, वह बात अब नहीं है। फ्रांस के साथ युद्ध करके, सब प्रांतों ने एक दिल होकर शत्रु से युद्ध में विजय प्राप्त की। अतएव राजकीय व्यवहार में उनमें एकता उत्पन्न करने का भाव प्रिंस बिस्मार्क के मन में उत्पन्न हुआ और उसी अवसर पर साम्राज्य स्थापना की अनुकूल स्थिति प्राप्त होने का समय आ उपस्थित हुआ। इस स्थिति का बिस्मार्क ने अच्छा उपयोग किया और युद्धस्थल पर ही यश की विजयपताका, साम्राज्य स्थापना के रूप में, फहरा दी। युद्ध के समय जिस प्रकार हम एक हैं उसी

प्रकार शांति के समय में भी हम सब एक होकर रह सकते हैं, यह बात अपनी विलक्षण बुद्धि से बिस्मार्क ने कर दिखलाई। देशाभिमान का पारा उस समय बहुत ऊंचा हो गया था। परंतु कुछ दिनों के बाद धीरे धीरे वह उतरने लगा। साम्राज्य संबंधी उच्च कल्पना नष्ट होकर उसके स्थान पर उसका यथार्थ लाभ प्राप्त करने की कल्पना वर्तमान समय में आ उपस्थित हुई है। साम्राज्य चाहिए, जैसी पहले इच्छा थी वैसी ही इच्छा अब भी बनी हुई है। परंतु किस लिये ? केवल व्यवहार में उसका उपयोग होने के लिये। साम्राज्य के व्यवहारिक उपयोग से बस अब इतना ही समझा जाता है कि राजनैतिक विषयों में अन्य राष्ट्रों के साथ अपना तेज अथवा महत्व प्रगट करना और छोटी छोटी संयुक्त रियासतों अथवा प्रांतों का कार्य बड़ी बड़ी रियासतों के मुकाबले में उत्तमता पूर्वक चलाना। इनमें से पहला उद्देश्य स्पष्ट और कार्यानुकूल है। परंतु दूसरा उद्देश्य उतना स्पष्ट नहीं है। जर्मन कहने से जहां एक ही खून का बोध हो और जर्मन शत्रु कहने से जहां सारी जर्मन जाति का शत्रु समझा जावे, यह भावना उत्पन्न होकर सब रियासतों ने मिलकर जिस समय साम्राज्य का संगठन किया उससे पहले राज्य और रियासतों की दशा कैसी थी, जिन्हें इस बात का स्मरण है, उन्हीं के ध्यान में विशेष कर के, यह दूसरा उद्देश्य आ सकेगा, अन्य लोगों के नहीं। साम्राज्य संगठन के समय साम्राज्य के लिये कानून कायदे बनानेवाली और इन कानून कायदों पर चलनेवाली नई संस्थाएं उत्पन्न हुई। अतएव पुरानी रियासतों को अपने अधि-

कार त्यागने पड़े। परंतु ऐसा होने के पहले से वे अधिक शक्तिशालिनी हो गई हैं। हमारा यह कथन चाहे किसी को विपरीत मालूम हो परंतु यथार्थ बात यही है। यदि और कोई भी, विचार कर के देखेगा तो वह भी इसी नतीजे पर पहुँचेगा। इस नई व्यवस्था से प्रत्येक रियासत अथवा प्रांत को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है और यह स्वतंत्रता आगे भी ऐसी ही रहेगी। रियासतों में राजा को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो गए हैं और स्वतः की शक्ति पर अवलंबित रहकर अन्य लोगों से अलग रहनेवाले राजा के राज्य से अल्प सत्तात्मक राज्यपद्धति जो प्रायः नष्ट हो गई थी अब भी थोड़ी बहुत, उसी प्रकार बनी हुई है। एक-सत्ताक-राज्य-पद्धति अर्थात वंशपरंपरागत राज्यशासन का प्रभाव जितना पहले था उतना ही अब भी जर्मनी में बना हुआ है। सोशल डेमोक्रेटिक पक्ष अर्थात् प्रजासत्तावादी लोग प्रजासत्तात्मक राज्यपद्धति के सिद्धांतों को कितना ही लोगों को समझावें परंतु इससे उनकी राजनिष्ठा में कुछ भी अंतर पड़ने की सम्भावना नहीं है। प्रिंस बिस्मार्क ने अपनी रिक-लक्शन'' नाम की पुस्तक में उपरोक्त मत को दृढ़ करने के लिये अपने विचार स्पष्ट प्रदर्शित किए हैं। उनके मतानुसार भी नवीन राज्य व्यवस्था से, केवल प्रशिया में ही नहीं, छोटे बड़े सब प्रांतों अथवा रियासतों में भी राजा की सत्ता अधिक बढ़ गई है। किन्हीं रियासतों में तो राजा की लोकप्रियता के कारण, यह सत्ता और भी अधिक दृढ़ हो गई है। राजनैतिक विषयों में प्रगमनशील कल्पना के अनुरोध से प्रजा को कुछ विशेष अधि-कार प्रदान किए गए हैं और इस प्रकार कार्य करने से राज-

सत्ता और भी दृढ़ हो गई है। तात्पर्य यह है कि राजा के संबंध में एक-सत्तात्मक राज्यपद्धति की जड़ें जनता की श्रद्धारूपी उपजाऊ भूमि में बहुत गहरी चली गई हैं!

सन् १८२८ में गेते (Goethe) ने लिखा था—"राज्य में एक राजधानी बनाने से जर्मनी में एकता उत्पन्न होगी, जो यह बात कहता है, वह भूलता है।" सन् १८७१ में जिन लोगों को इस भूल के मत पर विश्वास था, उन्हें विचारने पर यह प्रगट हो गया कि साम्राज्य की स्थापना हो कर एक राज-धानी होने से एकता की अपेक्षा भिन्नता का भाव अधिक दृढ़ हो गया। साम्राज्य को स्थापित करने से यह भेदभाव दूर हो जायगा, जिनको इस बात का बड़ा भरोसा था, वे भी अंत में निराश हुए। परंतु साम्राज्य का स्वास्थ्य और उसके भरोसे पर बढ़ता हुआ व्यवसाय और स्वतः के कामकाज संबंधी स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिये संयुक्त राज्य बड़ा प्रयत्न करते रहते हैं और इसका परिणाम यह हुआ है कि जर्मनी में भिन्न भिन्न जो छोटी छोटी रियासतें हैं और जिनको "पितृ-भूमि" (Fatherland) कहते हैं, उनके विषय में, प्रजा के मन में अपने राजघराने और पितृभूमि के विषय में विलक्षण प्रेम उत्पन्न हो गया है।

प्रिंस बिस्मार्क का सिद्धांत था कि यदि जर्मन लोगों के मन में वास करता हुआ राजघराने का प्रेम कम किया जाय तो उनमें देशाभिमान का गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। इस विषय में उन्होंने लिखा है—"जर्मन लोगों का पितृभूमि पर प्रेम होने के लिये राजा पर निष्ठापूर्वक प्रेम का होना बहुत

आवश्यक है । जर्मन राजघराने के मुख्य पुरुष को यदि आज एकदम पदच्युत करने की कल्पना की जाय तो यूरोप के राजकाज में और परस्पर राष्ट्रों में विवादग्रस्त प्रश्न जो सदा उपस्थित होते हैं, उससे जर्मन लोग अलिप्त रहेंगे । हम लोग जर्मन हैं, केवल इतनी ही बात ध्यान में रखकर वे एकमत हो कर कोई भी राष्ट्रीय व्यवहार नहीं करेंगे। राजा समाज में सब से श्रेष्ठ है, वह समाज का नियंता है; ये मानसिक बंधन यदि एक बार शिथिल हो जावें तो एकता के सूत्र में बँधे हुए अन्य राष्ट्रों के सामने जर्मन लोग ठहर नहीं सकते । अन्य लोगों की अपेक्षा प्रशिया के लोगों में राष्ट्रीय गुण विशेष हैं । यह बात उस देश के इतिहास से स्पष्ट ज्ञात होती है । परंतु वहाँ भी यदि होहेनजोलर्न राजघराना नष्ट हो जाय तो उनमें इस गुण का होना अथवा न होना बराबर है और इस समय पर पूर्व-प्रशिया और पश्चिम-प्रशिया में जो एकता है वह नष्ट हो जायगी । विशिष्ट राजघराने का उत्कट अभिमान और उस घराने के नाम के नीचे आनेवाले राष्ट्रीय समूह के लोगों के अंतःकरण में एकता उत्पन्न करने के काम में होनेवाला उसका उपयोग, ये दो बातें जर्मन साम्राज्य के संबंध में विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिएँ ।"

जर्मन लोग अपने अपने प्रांतों पर उसी प्रकार प्रेम करते हैं जैसा साम्राज्य संगठन से पहले करते थे । साम्राज्य संबंधी अभिमान होते हुए भी अवसर आने पर वे अपने प्रांत का प्रेम भुलाते नहीं और अपनी छोटी सी पितृभूमि की स्वतंत्रता नष्ट करने की अपेक्षा साम्राज्य नष्ट होने की कुछ परवाह नहीं

करते। इस प्रकार के विचार के लोग बड़ी बड़ी रियासतों में तो पाए ही जाते हैं परंतु छोटी छोटी रियासतों में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है। रियासतों को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनमें से यदि किसी अधिकार को कम करने की चर्चा उठाई जाय तो उनका खून खौलने लगता है। अतएव लोगों के मन में जो पृथग्भाव है, उसे दूर करके केवल यह भाव उत्पन्न करना कि हम सब 'जर्मन' हैं, साम्राज्य के राजनीतिज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है और वे अपने कर्तव्य पालनार्थ दत्त चित्त हो कर लगे हुए हैं। उनका यह प्रयत्न सिद्ध हो जाने पर जर्मन एक राष्ट्र है, यह भाव उनके मन में उत्पन्न हो जायगा और वर्तमान समय के डांवाडोल विचार नष्ट हो कर साम्राज्य संबंधी उनका विश्वास अधिक दृढ़ हो जायगा, इसमें संदेह नहीं है।

जर्मनी में सार्वभौम जो सत्ता स्थापित हुई है, वह बिलकुल अनियंत्रित नहीं है। लोगों को उस पर कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त है। अतएव उसका स्वरूप बहुत कुछ सौम्य हो गया है। परंतु तो भी लोकमतानुरोध से इससे अधिक सौम्य स्वरूप दिया नहीं जा सका यह जान कर बहुत से लोगों में निराशा उत्पन्न हो गई है। राइस्टाग (पार्लियामेंट, प्रजा द्वारा चुने हुए लोगों की सभा) पर किसी भी पक्ष के लोग प्रसन्न नहीं है। परंतु इसका बहुत सा दोष कुछ लोगों के कथनानुसार स्वयं सभासदों पर है। ये सभासद कोरा वादविवाद और टीका टिप्पणी करने में ही अपना समय व्यतीत करते हैं। राष्ट्र के कल्याण की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं रहता। उनपर

जो ये आक्षेप किए जाते हैं वे बहुत करके ठीक हैं। परंतु सारा दोष सभासदों का भी नहीं है। उनके हाथ में काम करने का कोई भी अधिकार नहीं है। अतएव वे कोरा वाद विवाद करते हैं। राइश्टाग के संगठन का इतिहास देखने से पाया जाता है कि उसमें दो प्रकार की राज्यपद्धति का मिश्रण करने का प्रयत्न किया गया है। ये दोनों पद्धतियां-एक तो जर्मनी की रियासतों में प्रचलित एक-सत्तात्मक-राजपद्धति और दूसरी पश्चिमी प्रतिनिधि-निक्षिप्त शासन पद्धति हैं। इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध शासन-पद्धतियों का मिश्रण करके राइश्टाग को जो स्वरूप दिया गया है वह अपूर्ण है। २१ वर्ष की उमर का प्रत्येक मनुष्य उसमें सभासद हो सकता है। "फेडरेल कौंसिल" अर्थात् संयुक्त रियासतों की प्रतिनिधिसभा जिसे "बुंडेसराट्" कहते हैं उसीके समान कायदा कानून बनाने का इस सभा को अधिकार है, यह सच है; परंतु काम करनेवाले अधिकारियों पर अर्थात् मंत्रिमंडल पर उसका बिलकुल अधिकार नहीं है। मंत्रियों को नियत करना अथवा उनको अलग करना यह अधिकार जर्मन सम्राट् के ही हाथ में है और अपनी इच्छानुसार वे उसका उपयोग करते हैं। व्यक्तिशः अथवा संघ शक्ति के बल पर राजकीय पक्ष के लोगों को बलात् अथवा अधिकारियों के विरुद्ध हाथ पैर हिलाने तक का अधिकार न होने का परिणाम यह होता है कि कानून कायदे बनाने का अधिकार राइश्टाग के सभासदों को होते हुए भी जिनको सारा राष्ट्र चुनता है, राज काज चलाने के काम में राष्ट्र का हाथ नहीं होता। सभा में वादविवाद का काम

लोग खुले दिल से करते हैं। सरकारी काम को उचित मान न देकर मनमानी टीका टिप्पणी करते हैं। अपने इच्छानुसार बिना रोक टोक के वे अपनी राय देते हैं। ये सब बातें जैसी होनी चाहिएँ वैसी होती हैं, परंतु इतना होकर भी सभासदों को राज काज में जो अपनत्व होना चाहिए वह नहीं होता और भेदभाव बना ही रहता है।

कानून कायदा बनाने का भी समान रूप से विभाग नहीं किया गया है। किसी नए कानून का मसौदा उपस्थित करने का अधिकार सभासदों को दिया गया है। इसी प्रकार सरकार की ओर से जो कानून का मसौदा पेश हो, उसे पास न करने अथवा उसमें सुधार करने का भी अधिकार सभासदों को दिया गया है, और इसी तरह पर यदि किसी सभासद ने कोई बिल उपस्थित किया तो उसे स्वीकार करने अथवा न करने या उसके बजाय दूसरा नया बिल उपस्थित करने का सरकार को भी अधिकार प्राप्त है। दोनों की समानता बताने का यह एक उत्तम साधन है। परंतु व्यवहार में वह किसी काम का नहीं है। सरकार द्वारा उपस्थित किए गए बिल बराबर पास होनेवाले हैं परंतु यदि किसी सभासद ने बिल उपस्थित किया तो बिल पास होने तक उसका नाकों दम आ जाता है। बिल को वापस लेने की अपेक्षा उसमें जितना कतर ब्योंत सरकार चाहती है उतना करने को भी वह विचारा तैयार हो जाता है। सरकार की ओर से किसी योजना के उपस्थित किए जाने पर, उसे अस्वीकार कर देने से कायदा कानून बनाने का यंत्र बंद करने

का अधिकार राइशटाग को है परंतु इस अधिकार का उपयोग करना मानो सरकार को उठते बैठते तंग करना है; फिर भी इससे कोई विशेष लाभ न होकर उलटी मूर्खता गले पड़ती है। अतएव ऐसी मूर्खता को लेकर काम को बंद कर देने की अपेक्षा सरकारी योजना में उचित फेर फार कर के उसे स्वीकार करने का मार्ग ही सभासद पसंद करते हैं।

किसी पक्ष के अधिकारारूढ होने पर, उसी के हाथ में, राज काज के सारे सूत्र देना, इंग्लैंड के समान जर्मनी में, यह चाल नहीं है, और वहां के कुछ लोगों का मत है कि ऐसा न होना हितकर है। इस संबंध में वे यह उक्ति बताते हैं कि जर्मन मांत्रिमंडल में पक्षाभिमान न होने से वे जो कानून क़ायदा पास करते हैं, वह किसी खास पक्ष के हित साधनार्थ पास नहीं किया जाता; सारी प्रजा का जिससे हित होता है उसी प्रकार की राज्यव्यवस्था बनाने की ओर सदा उनका ध्यान रहता है। इंग्लैंड के मांत्रिमंडल से इतना निष्पक्षपात होकर काम करते नहीं बनता। परंतु इन विचारों में भूल है। थोड़ा सा विचार करने पर ही यह भूल मालूम हो जाती है। जर्मनी के अधिकारी मंडल के पक्षाभिमान की बात तो दूर रही वरन प्रतिनिधि सभा में अपना मत प्रबल करने के लिये जिस पक्ष के लोग अपने अनुकूल हैं, ऐसा प्रतीत होने पर, उन्हें अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया जाता है, क्योंकि पक्ष प्रबल न होने से राज-शकट चल कैसे सकता है? इस प्रकार का व्यवहार प्रांतिक सभाओं (डायट) में ही होता हो, यह बात नहीं है, प्राशिया अथवा

साम्राज्य की बड़ी सभा में भी यह व्यवहार चलता है। गत बीस पचीस वर्षों में, एक दो अवसरों को छोड़ कर प्रशियन लोअर हाउस में कंसरवेटिव पक्ष के लोगों के हाथ में हाथ मिलाकर सरकारी अधिकारी अपना पक्ष प्रबल बनाते रहे हैं। प्रिंस बिस्मार्क ने भी साम्राज्य के आरंभ में राइश्टाग में के एक पक्ष का सहारा लिया था। परंतु जब उस पक्ष को अपने अनुकूल होते न पाया तब उसे त्याग कर फिर दूसरे पक्ष का सहारा लिया। उनके पश्चात् होनेवाले चांसलर लोगों ने भी इसी मार्ग का अनुकरण किया। तात्पर्य यह है कि जो पक्ष प्रबल होता है, मंत्रिमंडल उसी पक्ष को अपने अनुकूल बनाए रखने का प्रयत्न करता है।

जिस राज्य का ध्येय एक सत्तात्मक राज्यपद्धति नहीं है अथवा बृटिश पार्लियामेंट के अनुसार बहुसत्तात्मक राज्य पद्धति भी नहीं है, उस राज्य के लोगों के मन में सार्वजनिक हित संबंधी उन्नति के विचार उत्पन्न नहीं होते और राजनैतिक हित के उपयोगी विचार शृंखलाबद्ध नहीं होते। अपने हाथ में अधिकार नहीं हैं, यह बात भिन्न भिन्न पक्ष के लोग जान कर निरर्थक वादविवाद में अपनी सारी शक्ति लगाते हैं और इस कोरे वादविवाद से कोई लाभ भी नहीं होता। राइश्टाग के सारे सभासद राष्ट्र के युवा पुरुषों द्वारा निर्वाचित होते हैं और उनके पक्ष में बहु-जन-समाज होता है। यह बहु-जन-समाज वाद-विवाद-प्रिय होने के कारण वक्तृता का स्रोत बराबर बहा करता है। परंतु उनकी निःसार वक्तृताएं जितनी निष्फल होती हैं उतनी अन्य शिक्षित देशों की किसी भी प्रतिनिधि

सभा के सभासदों की नहीं होतीं। टीका टिप्पणी करने में कोई रोक टोक नहीं है, यह बात उन सभासदों को मालूम ही है। अतएव सरकारी काम की वे इच्छानुसार आलोचना करते हैं और ऐसा करने पर वे संसार के नाना विषयों पर वक्तृताएँ फटकारते रहते हैं। यदि एक वर्ष के व्याख्यानों की संख्या देखी जाय तो मालूम होगा कि संसार का कोई भी विषय छूट नहीं गया है। परंतु यह पद्धति राजनैतिक दृष्टि से हितकारिणी नहीं है और कानून कायदा बनाने के काम में भी उससे उचित सहायता प्राप्त नहीं होती, क्योंकि राजकाज में लोकमत का लाभदायक प्रभाव जो पड़ना चाहिए, वह नहीं पड़ता। अधिकारी लोग अपना काम ईमानदारी और कर्त्तव्य-रत होकर करते हैं, इस बाबत किसी को शंका नहीं है। परंतु साधारण लोगों के साथ मिलकर सामने उपस्थित किए गए प्रश्नों पर उदारतापूर्वक समाज का हिताहित देखकर कार्य करने की योग्यता का अभाव उनमें अवश्य है, और सब से बुरी बात जो है, वह यह है, कि पार्लियामेंट के समान सभा पर कानून क़ायदा बनाने की जिम्मेदारी होने की अपेक्षा उसके अधिकारी मंडल पर होने के कारण, असंतुष्ट प्रजा, अधिकारियों पर और जिस राज्य-पद्धति द्वारा आवश्यकता से अधिक सत्ता हाथ में आती है, उस राज्य-पद्धति पर, दोषारोपण करती है। किसी राजनैतिक विषय का निर्णय इंग्लेंड के कुछ लोगों अथवा किसी पक्ष विशेष को पसंद न हुआ तो वहां राज्य-पद्धति को सहसा दूषित नहीं बताया जाता, क्योंकि जो भूल हो गई है, उसको पुनः ठीक कर लेने की

कमोवेश शक्ति वे समझते हैं कि हममें मौजूद है। असंतुष्ट जर्मन नागरिक लोग स्वतः किसी बात को करने में समर्थ नहीं हैं। अतएव वे राज्य-पद्धति को ही सदा दूषित बताया करते हैं।

राज्य व्यवस्था में किस प्रकार का सुधार जर्मन लोग चाहते हैं, उसका दिग्दर्शन भी यहां पर करा देना उचित होगा। जिन तीन बातों के लिये वहां वाद विवाद हो रहा है वे ये हैं—(१) चुनाव का अधिकार (२) सभासदों का निर्वाचन विभाग और (३) राजमंत्री की जिम्मेदारी। इनमें से पहली बात का संबंध तो केवल उन रियासतों से है जहां निर्वाचन संबंधी सुधार अभी तक होना बाकी है, और बाकी की दो बातों का संबंध सार्वभौम सभा से है।

प्राशिया में प्रतिनिधियों के निर्वाचन संबंधी अधिकार का जो प्रश्न उपस्थित है, उसे स्थानीय प्रश्न बनाए रखने का प्रयत्न आज बहुत वर्षों से हो रहा है परंतु उस प्रश्न को अब सार्वभौम स्वरूप प्राप्त हो गया है। प्राशिया के लोअर हाउस में रेडिकल पक्ष के एक सभासद ने सन् १९०८ में कहा था—"जर्मन की सारी संयुक्त रियासतों में प्राशिया का स्थान सब से ऊँचा है और सारे साम्राज्य पर उसका प्रभाव है, अतएव प्राशिया में निर्वाचन संबंधी प्रश्न का निर्णय केवल प्राशिया की दृष्टि से न किया जाकर जर्मन राष्ट्र की दृष्टि से किया जाना चाहिए।" प्राशिया की राज्यव्यवस्था को नवीन पद्धति पर लाने की ओर अन्य रियासतें बहुत ध्यान देती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बुद्धिबल और राष्ट्र की साम्पत्तिक

दशा सुधारने में प्रशिया ने नेता बन कर जैसा काम किया है उसी प्रकार राजनैतिक विचारों को नया स्वरूप देने के काम में भी उसको अगुआ बनकर काम करना चाहिए, इस भाव का प्रशियन लोगों के मन में उत्पन्न होना एक सहज बात है। "इंपीरियल चैंसलर" और "प्रशियन मिनिस्टर प्रेसिडेंट" इन दोनों जगहों पर एक ही आदमी होने का उद्देश्य यही है कि साम्राज्य और रियासतों की राज्य-पद्धति समान हो। यह बात रियासतों की ओर से उपरोक्त बात को पुष्ट करने के लिये बार बार आगे लाई जाती है और इस विषय में उभय पक्ष के बीच सदा वाद विवाद होता रहता है। एक पक्ष दक्षिणी जर्मन लोगों का यह है कि प्रशिया के धीमेपन के कारण हम लोग भी पीछे रहे जाते हैं। दूसरा पक्ष यह कहता है कि यदि प्रशिया के राजनैतिक विचारों में पीछे पड़े हुए लोगों को इन उदाराशय मनुष्यों ने अपने साथ ले चलने का प्रयत्न किया तो लोग बहुत क्रोधित हो जाते हैं।

प्रशिया के जमीदारों के मुख्य समाचार पत्र "बर्लिन क्रास गजट" ने सन् १९०७ में एक लेख प्रकाशित किया था—"प्रशिया अथवा अन्य रियासतों के बीच जो मतभेद है वह आज कल एक नया रंग लाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ रियासतों और खास कर दक्षिण जर्मनी की रियासतों में पार्लियामेंट (डायट्) के निर्वाचन के जो नियम हैं, उनमें लोकमत का खयाल करके कुछ अदल बदल किया गया है। इसी प्रकार प्रशिया भी अपने नियमों में अदल बदल कराना चाहता है परंतु प्रशिया की सरकार और पार्लिया-

मेंट को यह बात स्वीकार नहीं है। दक्षिण-जर्मनी की रियासतों को सार्वभौम डाएट की पद्धति पर प्रत्येक बालिग पुरुष को मत देने का अधिकार है। इसी कारण राजनैतिक उन्नति के कामों में नेता होने का थोड़ा मान उनको देना जरूरी है। परंतु प्रशिया में इसका बिलकुल उल्टा है, यह बात जो लोग कहते हैं, वह ठीक नहीं है। इन लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जर्मन साम्राज्य संगठित करते समय जिन बड़े और खानदानी लोगों ने परिश्रम किया था, उसका लाभ उन्हें अवश्य मिलना चाहिए। उस लाभ को उन्हें न मिलने देने का यदि कोई प्रयत्न करे तो यह समझना चाहिए कि उसके ध्यान में यह बात आई ही नहीं है कि साम्राज्य की स्थापना अपनी भलाई के लिये हुई है अथवा बुराई के लिये।"

निर्वाचन का अधिकार विशेष विस्तृत होना चाहिए, यह बात जो लोग कहते हैं, उनका कथन है कि साम्राज्य के लिये जो बात हितकारी है वह उसके अंतर्गत रियासतों के लिये क्यों न हितकारी समझी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त वह यह भी बताते हैं कि प्राशिया में निर्वाचन की जो पद्धति है वह साम्राज्य की मुख्य रियासतों को पसंद नहीं है। अतएव उन्होंने अपने लायक़ अपना सुधार कर लिया है। प्राशिया में इस पद्धति का वीजारोपण कैसे हुआ, उसे संकुचित स्वरूप क्यों कर प्राप्त हुआ और अब भी उसका यह स्वरूप क्यों बना हुआ है, बिना इन बातों को स्पष्ट किए हुए, यह विषय समझना कठिन है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल में प्रशिया के नेताओं के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि राजकाज में, अपना भी हाथ होना चाहिए। इसी के अनुसार सन् १८४९–५० में प्रशिया के राजा फ्रेडरिक विलियम ने लोगों को राजकाज संबंधी अधिकारों की सनद प्रदान की। इस सनद के अनुसार सन् १८७१ अर्थात् साम्राज्य की स्थापना होने के बाद तक काम होता रहा और अब तक इसी के अनुसार काम हो रहा है। प्रशिया का प्रभाव अधिक होने के कारण, साम्राज्य की स्थापना होने के बाद की राज्यव्यवस्था में और राजनैतिक आंदोलन में, प्रशिया का अनुकरण ही अन्य सब रियासतों ने किया। प्रशियन लोगों को अधिकारप्राप्ति की सनद तो मिली और लोगों को मत देने का अधिकार भी प्राप्त हुआ परंतु वहां की पार्लियामेंट में सच्चे प्रतिनिधियों का निर्वाचन न हो कर सरकार के अनुकूल प्रभावशाली खानदानी लोगों का ही निर्वाचन अधिकतर होता है। परंतु यह क्यों होता है, इसका भी कारण सुनिए।

"प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने का जिन्हें अधिकार है, उनके तीन विभाग किए जा सकते हैं। ये विभाग सरकारी कर अदा करने का ध्यान रख कर किए गए हैं। अर्थात् जो लोग अधिक कर देते हैं, वे अधिक प्रतिनिधि चुन सकते हैं और जो कम कर देते हैं वे कम प्रतिनिधि चुन पाते हैं। अब हम इस विषय को और भी स्पष्ट करके बताते हैं। प्रशिया में २,६०,००० अमीर लोग कर देनेवाले हैं जो एक तिहाई सभासदों का निर्वाचन करते हैं। ८,७०,००० लोग मध्यम

श्रेणी के एक तिहाई मनुष्यों का निर्वाचन करते हैं और ६५,००,००० गरीब लोग भी एक तिहाई मेंबर चुन देते हैं। इसका परिणाम सदा यह होता है कि ६५ लाख लोगों के प्रतिनिधि बिल्कुल थोड़े होने के कारण, उनके प्रतिनिधि प्रशियन लोकसभा में बहुत कम होते हैं अर्थात् प्रशियन लोक-नियुक्त-सभा का "लोक" शब्द निरर्थक है। बर्लिन नगर की म्युनिसिपैलिटी के चुनाव के समय भी यहां कठिनाई आ उपस्थित होती है। कर के अनुसार वर्गीकरण का परिणाम यह होता है कि बर्लिन नगर में सोशल डेमोक्रैट लोगों की अधिकता होते हुए भी १४४ म्युनिसिपल सभासदों में से ३२ मेंबर "लोकसत्ता वाले" होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस नगर में लाख लोग वास करते हैं उस नगर की व्यवस्था दो तिहाई सभासदों का निर्वाचन करनेवाले ३३००० लोगों के हाथ में है।

यह हुई लोकनियुक्त सभा की कैफियत, जिसे "लोअर हाउस" कहते हैं। अब बड़ी सभा की दशा का क्या वर्णन किया जाय। इस बड़ी सभा को "अपर हाउस" कहते हैं। इस अपर हाउस में राजघराने के युवा राजकुमार, सरदार, महाजन, जमींदार और राजा ने जिसे जीवन पर्यंत चुन दिया, ऐसे लोग, सभासद होते हैं। लोकसत्तावादी क्वचित ही मेंबर इस सभा में देखे जाते हैं। प्रशिया की इस सभा में ३२७ सभासद थे, जिनमें केवल १२ लोक सत्तावादी थे, अर्थात् ३ बेंक के डायरेक्टर, ८ व्यापारियों के प्रतिनिधि और केवल १ मजदूर पक्ष का। इससे यह कह

सकते हैं कि व्यवसाय वाणिज्य और मजदूरी करनेवाले लोगों में ४ फी सदी से अधिक योग्य मनुष्य इस काम के लिये प्रशिया में मौजूद नहीं हैं! अतएव प्राशिया में, सच्चे लोकमत का राज्याधिकारियों की ओर से कितना मान है और उन्हें कितनी उत्तेजना मिलती है, यह प्रगट हो जाता है।"

अब साम्राज्य महासभा "राइस्टाग" में निर्वाचन कार्य किस तरह होता है, यह देखिए। इस सभा में लोकनियुक्त, प्रतिनिधियों के लोग होते हैं। यह निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है, प्रशियन पार्लियामेंट की तरह परंपरा से नहीं होता। इकीस वर्ष की उमर के हर एक मनुष्य को मत देने का अधिकार है। उन लोगों द्वारा निर्वाचित ३९७ सभासद, इस सभा में बैठ कर कानून कायदा बनाते हैं और राजकाज सुयंत्रित रूप से चलाने के लिये उचित धन खर्च करने की आज्ञा प्रदान करते हैं।

इससे यह पता चलता है कि राइस्टाग में निर्वाचन कार्य बड़े सरलतापूर्वक होता है और यह सरलता दक्षिण जर्मनी की कई रियासतों ने अपनी अपनी पार्लियामेंटों में निर्वाचन के समय काम में लाई थी। परंतु अन्य रियासतों में प्राशियन निर्वाचन-पद्धति का प्रचार होने से लोकमत जितना प्रगट होना चाहिए, उतना प्रगट नहीं होने पाता। अतएव अन्य रियासतों का कथन है कि प्राशिया को अपना बर्ताव, इस संबंध में, जरा उदारतापूर्वक प्रगट कर दिखाना चाहिए।

राइस्टाग की निर्वाचन-पद्धति कुछ अधिक संतोषजनक नहीं है, क्योंकि वहां भी लोकमत के अनुकूल प्रतिनिधि नहीं

आते। इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न रियासतों के सभासदों का विभाग उचित रीति से नहीं किया गया है। किस शहर से कितने प्रतिनिधि आने चाहिएँ यह बात प्रिंस बिस्मार्क और उनके साथियों ने सन् १८७२ में निश्चय कर दी थी। उस समय यह विभाग एक तर्फा किया गया था। इस सभा में भी जहां तक हो सके बड़े बड़े जमींदारों का ही निर्वाचन होता है, जिससे उनके द्वारा राजसत्ता और राज घराने के लोगों का हितसाधन होता रहे और इसी उद्देश्य पूर्ति के लिये ये विभाग किए गए थे। परंतु अब यह चुनाव बिलकुल एक तर्फा ही नहीं रहा वरन अन्याय की कोटि तक पहुँच गया है। सन् १८७२ के बाद जर्मनी में व्यवसाय व्यापार की खूब उन्नति हुई और उसी के साथ आबादी भी बढ़ी। परंतु बढ़ती हुई आबादी के मुकाबले में अधिक सभासदों के निर्वाचन का नियम नहीं बनाया गया। बर्लिन अब बहुत विशाल नगर होगया है परंतु तोभी उसके ६ प्रतिनिधि निर्वाचित हो पाते हैं। सन् १८७२ में जो बिलकुल छोटे से गांव थे अब वे बड़े बड़े नगर हो गए हैं परंतु उनके प्रतिनिधियों का साम्राज्य-सभा में कहीं नाम नहीं है। यह दशा सुधारने के लिये "नेशनल लिबरल" और "सोशल डेमोक्रैट" लोगों का प्रयत्न जारी है परंतु अब तक उन्हें इस काम में यश नहीं मिला है।

राइश्टाग के ऊपर "बुंडसराट्" नाम की जो सभा है और उसके हाथ में जो अधिकार हैं, उनको देखने से राइश्टाग को कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है, यह बात ध्यान में आ जाती है। यह

सभा सब संयुक्त प्रांतों अर्थात् रियासतों के प्रतिनिधियों से बनी है। इस सभा में राजघराने के लोग और बड़े बड़े सरदार लोग सम्मिलित हैं। हर एक रियासत से चुनकर ये लोग उनके प्रतिनिधि बनकर सभा में आते हैं। किसी कठिन प्रश्न के उपस्थित होने पर अपनी रियासत की सम्मति से हर एक मेंबर अपनी एक एक राय अर्थात् मत दे सकता है। इस सभा में कुल ५८ सभासद होते हैं। इस ५८ में १७ तो अकेले प्रशिया के हैं। ये प्रतिनिधि उस सभा में, अपनी निजी राय नहीं देते, उनकी रियासत की ओर से जो कुछ कहा जाता है, उसे ही व्यक्त करने के ये अधिकारी हैं। " यह सभा अपना कार्य गुप्त रखती है। जो कार्य रियासतें अपनी राजधानी में नहीं कर सकतीं वह कार्य इसके द्वारा होता है। लोकमत के दबाव का भय इस सभा को बिलकुल नहीं है; इसी कारण प्राचीन घरानों के लोग इसमें बहुत कुछ भाग लेते हैं। किसी भी उन्नतिशाली राष्ट्र में इतनी संयुक्तशक्तिशालिनी सभा नहीं है। इस सभा में प्रशिया के १७ सभासद होने के कारण ही प्रशिया के राजा—जर्मन सम्राट—का प्रभुत्व अधिक रहता है। स्थल और जल सेना संबंधी कानून कायदों का बनाना, साम्राज्य के खर्च के लिये कर लगाना, इत्यादि बातों का निर्णय प्रशियन प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा होता है, क्योंकि १७ मतों के अनुकूल होने पर अन्य प्रतिनिधि भी उनके मत को अस्वीकार नहीं कर सकते।

युद्ध और सुलह करने में इस सभा की राय ली जाती है। इसके अतिरिक्त राइशटाग द्वारा स्वीकार की हुई नीचे लिखी

बातों पर भी यह सभा अपना अधिकार रखती है—(१) राइश्टाग द्वारा पास हुए कानून कायदों पर विचार, (२) कानून कायदों के प्रचार संबंधी व्यवस्था पर विचार, (३) कानून कायदों के प्रचार में जो कठिनाइयाँ आ कर उपस्थित हों, उन पर विचार। जर्मन सम्राट जिसे अपना "चैंसलर" (मुख्य प्रधान) बनावे, वही इस सभा का सभापति होता है और वही इस सभा की ओर से लोकनियुक्त सभा में भाषण करता है। परंतु "बुंडेसराट्" सभा को कोई बात शायद पसंद न हो, इस विश्वास पर सभा की ओर से कोई वचन यह नहीं दे सकता।

अब तक, पीछे कही हुई दो बातों का संबंध होने के कारण पर विचार किया गया। बाकी तीसरी बात, "मंत्रिमंडल" की जिम्मेदारी पर लिख कर यह विषय समाप्त किया जाता है।

यह तीसरी बात बहुत नाजुक है। परंतु लोकसत्तावादी लोगों के कथनानुसार यदि इसमें सुधार हुआ तो साम्राज्य और प्रशिया की राज्यव्यवस्था के नियमों में बहुत गड़बड़ मच जायगी, अर्थात् उसे एक भिन्न स्वरूप ही देना पड़ेगा। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो जर्मन सम्राट के मंत्रिमंडल पर ही सारी जिम्मेदारी है; परंतु व्यवहार में उसका अनुभव नहीं होता। इंग्लैंड का मंत्रिमंडल किसी विशेष पक्ष का होने से जब उसका पराजय होता है तब मंत्रिमंडल को पदच्युत होना पड़ता है। परंतु यह दशा जर्मनी की नहीं है। सैनिक विभाग को छोड़ कर, अन्य विभागों में, सम्राट

जो आज्ञा देता है अथवा जो घोषणा प्रचारित करता है उस आज्ञा अथवा घोषणा पर इंपीरियल चैंसलर को एक किनारे हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। अतएव नियमानुसार उसे जिम्मेदार होना चाहिए परंतु वह जिम्मेदार नहीं होता। प्रधानमंत्री से, सभासद जो चाहें वह प्रश्न पूछ सकते हैं। उसके किए हुए कामों के संबंध से वे इनकार कर सकते हैं परंतु उसे अथवा अन्य मंत्रियों को अलग कर देने का उन्हें अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल जर्मन सम्राट के हाथ में है। सम्राट अर्थात् कैसर ही प्रत्यक्ष राजसूत्रों के संचालक और मंत्रिमंडल के मुख्याधिकारी हैं। उनका निर्वाचन पहले के समान रियासतों द्वारा न हो कर, वंशपरंपरागत होता है। प्रशिया के बाहर उन्हें दीवानी कानून के अनुसार किसी काम में हाथ डालने का अधिकार नहीं है परंतु वे जर्मन जल और स्थल दोनों प्रकार की सेनाओं के मुख्याधिकारी हैं और पर-राष्ट्र संबंधी सारा काम उन्हीं के हाथ में है। इसके अतिरिक्त रियासतों की प्रतिनिधिसभाओं में भी उनका बहुत प्रभाव है। प्रशिया की अटूट शक्ति—एक दम सत्रह मत—होने के कारण ही, यह सभा उनके इच्छानुसार ही काम करती है। उनके प्रधान को चैंसलर कहते हैं; उसकी सहायता के लिये प्रत्येक विभाग में एक एक मंत्री रहता है। सहायक मंत्रियों की अपेक्षा उसका अधिकार और योग्यता अधिक न होने पर भी उसकी इंग्लैंड के मंत्रियों से तुलना करना कभी उचित न होगा।

बाइसवां अध्याय।

सोशियालिज्म के भावी चिन्ह।

जर्मनी के सामाजिक और साम्पत्तिक आंदोलन का अध्ययन करनेवाले लोगों को, सोशल डेमोक्रैटस् लोगों के संबंध की बातें भी अवश्य जान लेनी चाहिएँ। जनवरी सन् १९०७ में जो सार्वभौम निर्वाचन हुआ था उसमें सोशियालिस्ट लोगों की हार हुई। इससे यह अनुमान किया जाता है कि इन लोगों की संख्या जितनी बढ़नी चाहिए उतनी बढ़ी नहीं। अर्थात् लोक संख्या के साथ साथ इन लोगों की संख्या नहीं बढ़ी। सन १९०७ में सोशियालिस्ट उम्मेद-वारों ने ३ २,५८,००० मत अधिकार में कर लिए थे परंतु सन् १९०३ में यह संख्या ३०,१०,११० थी। सन १९०३ में जहां ४३ फी सदी बाढ़ हुई वहां सन १९०७ में ८.१ फी सदी बाढ़ हुई। सन १९०३ में जहां सब मतों में सोशियालिस्ट लोगों के मत प्रति सैकड़ा ३१.७ थे वहां सन १९०७ में प्रति सैकड़ा २९ रह गए। छोटी छोटी रियासतों से करीब दो हजार के मत उनके हाथ से निकल गए। मुख्य हानि साक्सेन प्रांत में हुई। वहां एकदम २२२०० मत कम हो गए। और मेक्लेनबर्ग-श्वेरिन से ५५०० मत हाथ से जाते रहे। प्रशिया, बवेरिया, बेडन, बुर्टेम्बर्ग इत्यादि रियासतों में पहले की अपेक्षा उन्हें अधिकमत मिले परंतु उससे अन्य रियासतों में जो कमी हुई वह पूरी न हो सकी।

खासकर औद्योगिक प्रांतों ने उनका पक्ष नहीं छोड़ा और न उन्होंने उदासीनता ही दिखाई। परंतु कृषिप्रधान प्रांतों में उनके मत बहुत कम हो गए। सन् १९०३ में ७९ सभासद राइश्टाग में सोशियालिस्ट थे परंतु १९०७ में केवल ४३ रह गए। सोशियालिस्ट पक्ष के नेता हर बेबेल ने सन् १९०३ में भविष्य वाणी की थी कि आगामी ७ वर्षों में हमारी संख्या राइश्टाग में १०० के करीब हो जायगी। उनकी यह "गर्वोक्ति" ठीक न साबित हुई। सन् १९०३ में इस पक्ष के लोगों का विचार था कि देश की संपत्ति अथवा संपत्ति उत्पादन के साधन व्यक्ति विशेष के हाथ में न रह कर सारे राष्ट्र के अधिकार में होने चाहिएँ, मजदूरों को अलग करके बाकी लोगों की जायदाद पर क्रमशः कर को बढ़ाया जाना चाहिए, बिना वेतनभोगी सेना "मिलीशिया" तैयार करनी चाहिए औद्योगिक कानून कायदों की उन्नति की जाना चाहिए और सार्वभौम सरकार द्वारा निश्चित की हुई उपनिवेशों की राज्यपद्धति का निषेध होना चाहिए। उपनिवेशों की राज्यपद्धति का निषेध वे लोग बराबर सात साल से कर रहे हैं और अनुकूल मत प्राप्ति के उद्योग में भी उनकी ओर से कुछ ढीलढाल नहीं पाई जाती है। परंतु गत सात वर्षों में इन लोगों का इतना पराभव हुआ इसका कारण क्या है? इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि सोशियालिस्ट लोगों के विरुद्ध प्रयत्न करनेवाले लोगों की एकता। दूसरा कारण यह है कि सोशियालिस्ट लोगों में दिखाई देनेवाली एकता का अभाव। इन दो बातों के अलावा छोटे छोटे किसानों, कारखानेदारों और फुटकर माल

बेचनेवाले व्यापारियों ने उनका पक्ष त्याग दिया है। परंतु ये कारण कुछ अधिक महत्व नहीं रखते।

सोशियालिस्ट लोगों के विरुद्ध प्रयत्न करनेवाले लोग खास कर मध्यम श्रेणी के लोग हैं। इन लोगों में सन् १९०३ और १९०६ के बीच में बहुत कुछ जागृति हुई है। सोशियालिस्ट लोगों का बल कम करने का ये लोग बहुत कुछ प्रयत्न करते हैं। इसी का यह परिणाम है कि उनका प्रभाव दिनों दिन कम होता जाता है। पहले पहल मध्यम श्रेणी के लोग निर्वाचन के समय मत ही नहीं देते थे अतएव इनका स्थान सोशियालिस्ट लोगों ने हस्तगत कर लिया था। जब उन्होंने देखा कि हमारे आलस्य ने सोशियालिस्ट लोगों को आगे बढ़ने का मौका दिया है तब वे सचेत हुए और अपना पक्ष सबल कर लेने में उन्हें बहुत समय न लगा। जिस तरह सन् १८८७ में कंसरवेटिव और नेशनल लेबर लोगों ने मिल-कर उनके विरुद्ध प्रयत्न करके विजय पाई थी उसी प्रकार सन् १९०७ में मध्यम श्रेणी के लोगों ने उनका पराभव किया। सन् १८८७ से १९०३ तक बराबर सोशियालिस्ट लोगों का उत्कर्ष होता गया और सन् १९०३ में तो उन्हों ने बहुत बड़ी विजय प्राप्त की। यदि सन् १९०७ में मध्यम श्रेणी के लोगों ने उनपर विजय न पाई होती तो हर बवेल का भविष्य बिना सत्य हुए न रहता। परंतु उनकी उस भविष्यवाणी का ही अंत न हुआ वरन उस साल के निर्वाचन में, बहुतों के ध्यान में यह बात आई कि बड़े बड़े शहरों में रहनेवाले लोगों ने आपस में एका करके, आपस का भेद भाव भुलाकर

एकमत से चढ़ाई की जाय तो सोशियालिस्ट लोगों की उन्नति में अवश्य बाधा पहुँचेगी।

सोशल डिमोक्रेसी पक्ष के सब लेखक यह बात स्वीकार करते हैं कि मध्यम स्थिति के लोगों की ओर ध्यान न रखने से ही सन् १९०१ में उनका पराभव हुआ। इन लोगों ने समाज के दो भाग कर दिए हैं पहले वर्ग में सांपतिक लोगों को रक्खा है और दूसरे वर्ग में दरिद्रावस्था में जीवन व्यतीत करनेवाले लोग रखे गए हैं। मजदूरों का एक और विभाग भी किसी किसी ने किया है जिसे "लोअर मिडिल क्लास" कहते हैं। इसकी ओर किसी का विशेष ध्यान न था। परंतु सन् १९०७ में यह भाग बहुत प्रबल हो गया और एकदम उसने सोशियालिस्ट लोगों को नीचा दिखाया। जो लोग राजनैतिक अधिकार पाने की इच्छा रखते हों, उन्हें चाहिए कि वे मध्यम श्रेणी के लोगों में सहानुभूति संपादन करें, जब यह बात उनके ध्यान में आई तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

सन् १९०७ में मध्यम श्रेणी के लोगों की सोशियालिस्ट लोगों में पूछ ही न थी। इस भूल को सोशियालिस्ट नेताओं और लेखकों ने स्वयं स्वीकार किया है। ऐसा करने से उनकी सरलता का पता सारे संसार को लग गया। हर एडमंड शिफर ने लिखा है—

"आबादी के विचार से मजदूरी पर निर्वाह करनेवाले लोगों की संख्या बढ़ती जायगी; और मनुष्य जाति के बहुत बड़े समुदाय को सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक भुगतना

पड़ेगा; मध्यम स्थिति के लोगों का धीरे धीरे नाम निशान मिट जायगा और थोड़े दिनों में ही ऐसी स्थिति आ उपस्थित होगी कि संपत्ति उत्पादन की अधिकता करनेवाले मुट्ठीभर बड़े लोगों की एक श्रेणी और मजदूरी पर निर्वाह करनेवाले असंख्य लोगों की एक श्रेणी; इस प्रकार समाज के दो विभाग ही रह जाँयगे। इसलिये लोगों को सोशियालिज्म के तत्वों को स्वीकार करने के लिये यदि कुछ प्रयत्न करना हो तो मजदूरी पर निर्वाह करनेवाले लोगों को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए; इन बातों का प्रचार आज बहुत दिनों से बड़े जोर के साथ हम लोग करते आ रहे हैं परंतु अब अनुभव से यह बात साबित हो रही है कि यह सिद्धांत ठीक नहीं है और व्यवहार में इसका प्रचार ही नहीं हो सकता। समाज में धनवान और मजदूर दो ही पक्ष रहेंगे, इसे हम लोग चिल्ला चिल्ला कर कहते थे परंतु अनुभव से यह बात जानी गई कि मजदूर श्रेणी के अलावा एक और श्रेणी है जो धीरे धीरे आगे आ रही है। इस श्रेणी के लोग धनवान लोगों के समान ऐश आराम में अपना जीवन नहीं व्यतीत कर पाते तौ भी मजदूरों के समान दुखी भी नहीं हैं।"

हर फिशर ने अनुमान लगाया है कि इस मध्यम श्रेणी के लोगों की संख्या पचपन लाख से कम नहीं है। इस संख्या में कृषक, व्यापारी, शिल्पकार, जमींदार, मालविभाग और म्युनिसिपैलिटी के नौकर, शिक्षक और अन्य व्यवसाय-जीवी लोग सम्मिलित पाए जाते हैं। उनके मतानुसार वे सब लोग मजदूरी पर निर्वाह करनेवाले लोगों में से ही उन्नति

करते करते अलग हो गए हैं, और विकास के सिद्धांतानुसार यह क्रम सदा चला ही जायगा, कभी रुक नहीं सकता। उनका यह मत ठीक हो अथवा न हो परंतु इससे एक बात यह अवश्य साबित होती है कि सोशियालिस्ट लोगों ने आज तक जिस मत का प्रचार किया उसमें भूलें अवश्य थीं। मध्यम स्थिति के लोगों के अस्तित्व को स्वीकार न करना और यदि स्वीकार भी करना तो उसे बहुत छोटा समझना और यदि एक बार उसे नष्ट कर दिया तो अपने सिद्धांतों की विजय हुए बिना न रहेगी आदि, ये उनके विचार हर प्रकार से प्रतिकूल साबित हुए और इसी कारण उनके सिद्धांतों का जितना प्रभाव लोगों पर पड़ना चाहिए उतना नहीं पड़ा; यह बात हर एक विचारवान पुरुष सहज ही में समझ सकता है।

सोशियालिज्म के सिद्धांतानुसार व्यवसाय वाणिज्य अथवा खेती का कार्य कर के अपना जीवन निर्वाह करने-वाले लोगों को "जर्मन मिडिल क्लास" कहना उचित नहीं है; उनका कथन है कि समाज के सब लोगों को समान होना चाहिए। सांपत्तिक स्थिति के विचार से अथवा अन्य किसी विचार से उनमें किसी प्रकार के फेरफार करने की आवश्य-कता नहीं है। अथवा किसी मनुष्य को स्वतः के साहस या भरोसे पर अन्य लोगों की अपेक्षा अपना दर्जा बढ़ाने की भी जरूरत नहीं है। मनुष्य स्वभाव की संचय करने की बुद्धि के अस्तित्व को केवल विक्षिप्त लोग ही स्वीकार नहीं करते। यह बुद्धि जिस प्रकार बड़े बड़े किसानों में होती है उसी प्रकार छोटे छोटे किसानों में भी होती है, बड़े कारखानेवालों में

जैसी होती है उसी प्रकार छोटे शिल्पकार में भी यह होती है, राजा महाराजाओं को ऋण देने की जिनमें शक्ति है ऐसे लक्ष्मीपुत्रों में वह जैसी होती है उसी प्रकार खारी खुरपा ले कर घास खोदनेवाले और प्रति सप्ताह अपनी आमदनी म्युनिसिपल बैंक में जमा करनेवाले मजदूरों में भी स्वभावतः होती है।

उपरोक्त लेखानुसार अब भी सोशियालिज्म के कुछ लोग दरिद्रता और असंतोष पर ही अधिक जोर देकर लोगों के सामने अपने सिद्धांतों को लाने का प्रयत्न करते हैं और समझते हैं कि इस प्रकार अपने सिद्धांतों के प्रचार होने में बहुत देर न लगेगी। परंतु संसार में सुधार का कार्य होने से दरिद्रता अथवा दरिद्रता से होनेवाली यातना, कुछ न कुछ धीरे धीरे कम करने के साधन अस्तित्व में आने लगे हैं, यह बात उनके ध्यान में नहीं आती और इस कारण सोशियालिस्ट लोगों का यह व्यावहारिक पक्ष बहुत निर्बल हो जाता है। इतना होने पर भी वादविवाद के समय लोगों की बढ़ती हुई दरिद्रता का राग अलापते वे कभी नहीं करते। "तुम दरिद्रता में कैसे पड़े हो और कुछ लोग धन के ढेर पर पड़े हुए आनंद मना रहे हैं, यह देखो!" ये बातें वे मजदूरों से बार बार कहते हैं और इस प्रकार वे मजदूरों के मन में असंतोष उत्पन्न करते हैं! अपने अनुयायियों के बर्ताव के लिये जो नियम उन्होंने बता दिए हैं उनमें मितव्यय—किफायतसारी—से चलने का नियम बिलकुल भुला सा दिया गया है। मितव्ययिता से चलने पर जो धन वे बचा

कर रक्खेंगे वह संकट के समय काम आवेगा और ऐसा होने से दरिद्रता से उत्पन्न हुए असंतोष का उन्हें बिलकुल ध्यान न रहेगा। इस कारण हर एक शहर के म्युनिसिपिल सेविंग बैंक में, बहुत से मजदूर लोग अपनी बचत का रुपया जाकर जमा कर आते हैं। परंतु यह बात सोशियालिस्ट लोगों को पसंद नहीं है, और यदि किसी मजदूर ने अपने बचाए हुए धन से अपने रहने के लिये अपना निज का घर बना लिया तो फिर यह बात उन्हें बिलकुल ही अच्छी नहीं लगती। मनुष्य स्वभाव प्रायः समान होता है और इसी सहज स्वभाव के कारण—फिर चाहे वह सोशियालिस्ट मत का अनुयायी ही क्यों न हो, उसके मन में यह बात सहज ही उत्पन्न होती है कि अपने रहने के लिये अपना निजी मकान होना चाहिए और किराया देने का कष्ट सदा के लिये दूर हो जाना चाहिए। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर छोटे छोटे घर बनाने की ओर मजदूरों का ध्यान जर्मनी में बहुत कुछ आकर्षित हुआ है। बहुत से मजदूरों ने अपने लिये मकान बनवा भी लिए हैं। इन मकानों से उन्हें लाभ भी हो रहा है। परंतु संग्रह करना, फिर चाहे वह मकान के रूप में हो, चाहे बैंक में जमा किए हुए धन के रूप में हो, यह बात सोशियालिज्म के सिद्धांतों के प्रतिकूल है। इस प्रकार का संग्रह करनेवाले सोशियालिस्ट पक्ष के लोग भी पाए जाते हैं! इसके अलावा एक विशेष आश्चर्य की बात यह है कि निज की संपत्ति के विरुद्ध सोशियालिस्ट लोगों की जो चढ़ाई हो रही है, उसका व्यय करने के लिये घर के लोग अर्थात्

स्वतः की संपत्ति पैदा करनेवाले मजदूर लोग चंदा देते ही हैं। वे लोग यह कहते हैं कि "भावी राज्य (Future State) जब होना होगा तब होगा, उस समय तक तो घर वगैरह बनाकर रहने में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती ! नियमानुसार चंदा देने में ही हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है। मजदूरों के व्यवहार की ओर ध्यान देने से सोशियालिज्म की नौका किस ओर जा रही है, यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है।

सोशियालिस्ट लोगों को इस समय जो ग्रहण लगा है, उसका एक और प्रबल कारण है। पार्लियामेंट में सोशियालिस्ट लोग जो आंदोलन मचा रहे हैं उसको जितना यश प्राप्त होना चाहिए उतना बिलकुल नहीं हुआ है। अपनी स्थिति सुधार कर धनवान लोगों के पंजे से मज़दूरों को छुड़ाने का प्रयत्न करना हो तो अपनी राजनैतिक शक्ति बढ़ानी चाहिए, यह बात आज से साठ वर्ष पहले ही उनके मुख्य नेता कार्ल मार्क्स ने कही थी। सोशल डेमोक्रैट् पक्ष मनुष्यगणना के विचार से जितना प्रबल है उतना प्रबल और कोई भी राजनैतिक पक्ष नहीं है। परंतु आपस में ही एकमत न होने के कारण उनकी शक्ति नुमायशी हो गई है। व्यावहारिक दृष्टि से इसके द्वारा कोई लाभ नहीं होता। इसका कारण यह है कि इन लोगों के काम करने की शैली की नीव दृढ़ नहीं है। पार्लियामेंट में कोई भी प्रश्न उपस्थित होने पर सिवाय टीका टिप्पणी करने अथवा उसमें विघ्न उपस्थित करने के और कोई दूसरा काम ही इन्हें नहीं है। इस प्रकार कार्य करने से क्या उनका राजकीय महत्व बढ़ सकता है ? महत्त्व बढ़ाने के लिये

कोई न कोई लोकोपयोगी कार्य किया जाना चाहिए। केवल कुत्सित टीका करना अथवा चलती गाड़ी की राह में रोड़ा अटकाने से कभी यह महत्व बढ़ नहीं सकता ? सोशियालिस्ट लोग अभी तक यही निश्चय नहीं कर पाए हैं कि उन्हें चाहिए क्या ? यह बात न तो उन्हें पहले मालूम थी और न अब मालूम है। यदि इन लोगों से प्रश्न किया जाय कि "देश का कार्य तुम्हारे मतानुसार किस प्रकार चलाया जाय ?" तो इसका उत्तर देने में ये लोग टालमटोल करते हैं। "राइस्टग में यदि तुम लोगों का मत अधिक हो जाय तो तुम करना क्या चाहते हो" ? यह प्रश्न अभी हाल में ही एक मेंबर ने पूछा था। इसका उत्तर हर बेवल ने यह दिया था—"हम लोगों का मताधिक्य होने से हम अपनी कल्पना के अनुसार राज काज चलावेंगे और विदेशियों के साथ हमारा ऐसा व्यवहार होगा कि संसार में चारों ओर शांति ही शांति विराजमान हो जायगी। हम स्वतः शांत रहकर दूसरों को अपना उदाहरण बता कर उन्हें शांति के मार्ग में लगा देने से हम मनुष्य जाति का कल्याण कर सकेंगे।" ये विचार अवश्य उदारता लिए हुए हैं परंतु इन विचारों के अनुसार काम कैसे किया जा सकता है, इसका उत्तर नहीं मिलता ! सोशियालिस्ट पक्ष के प्रसिद्ध लेखक हर बारवस ने अपने पक्ष की वर्तमान स्थिति का वर्णन केवल एक वाक्य में इस प्रकार किया है—"स्वतः के कार्यक्रम में असंबद्ध होनेवाले भिन्न भिन्न मतों का संचय हमारे पक्ष के लोगों ने बहुत अच्छी तरह से किया है।" सोशियालिस्ट लोगों में भी बहुत कुछ मतभेद है।

नाना मत और नाना पंथों से वह भी खाली नहीं है। इतना ही नहीं; एक मत दूसरे मत का घातक है। परंतु जिन लोगों के पास धन है, उनके साथ द्वेषभाव रखने में किसी का मत-भेद नहीं है। जिस प्रकार माला की मणि एक सूत्र में एक दूसरे से संलग्न रहती है उसी प्रकार इस पक्ष के लोग इस एक बात में आपस में संलग्न रहते हैं। बाकी बातों में एक का मुँह यदि पूर्व की ओर हुआ तो दूसरे का पश्चिम की ओर रहता है। उदाहरण के लिये अनियंत्रित व्यापार-पद्धति को ही ले लीजिए। इस पक्ष के लोगों का यह सिद्धांत है कि नियंत्रित व्यापार न होकर वाणिज्य के लिये मुक्त द्वार होना चाहिए परंतु बहुत से लोग इनमें ऐसे भी पाए जाते हैं जो संरक्षित व्यापार के पक्ष-पाती हैं। इसी प्रकार कृषि की उपेक्षा करके व्यवसाय वाणिज्य को उत्तेजना देना, इन लोगों का मुख्य सिद्धांत है परंतु कृषि की रक्षा पहले होनी चाहिए फिर चाहे व्यवसाय वाणिज्य का नाश भी हो जाय तो भी कुछ हानि नहीं है, इस मत का प्रति-पादन करनेवाले लेखक भी इस समुदाय में पाए जाते हैं। उपनिवेश न चाहिएँ, हमें यह बात इस पक्ष के लोग स्पष्ट कहते है परंतु इस पक्ष के लोगों की कांग्रेस में कभी यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ कि हमें उपनिवेशों की आवश्यकता नहीं है। सरकार को अपने पास से धन खर्च करके सेना रखने की जरूरत नहीं है, यह बात कहने पर भी कागज पत्रों के अलावा स्पष्ट रूप से इस प्रश्न को सम्मुख लाने का साहस कोई नहीं करता।

जिस पक्ष के लोगों के विचारों में इतना अंतर है उस

दशा इनकी होती है, और इसी कारण आपस में घर के घर ही में मतभेद ही हो जाता है। इस पक्ष के तीस पैंतीस लाख मनुष्य आज अनेक वर्षों से हवा में गठरी बाँधने का जो प्रयत्न कर रहे हैं वह विलक्षण और शोकप्रद है। जर्मन राजनैतिक क्षेत्र का यह अपूर्व दृश्य अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आता।

सोशियालिस्ट पक्ष के पुराने नेताओं के दुराग्रह से समाज का हित उस पक्ष के लोगों द्वारा आज तक न हो सका। परंतु यह दुराग्रह वर्त्तमान समय के तरुण लोग वैसा ही बनाए रक्खेंगे, इस बात का निश्चय नहीं होता। हर वान वाल्मर के समान लोग अब यह प्रतिपादन करने लगे हैं कि भविष्यत् में अपने पक्ष के लोगों के हाथ से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य संपादन हो अतएव अब नवीन कार्य-क्रम निश्चित किया जाना चाहिए। सोशियालिस्ट पक्ष के समाचार पत्र भी वाल्मर के मत का प्रतिपादन करने लगे हैं। विकास पक्ष के अनुयायियों के अनुकूल यदि कोई नया मार्ग सोशियालिस्ट लोगों ने ढूँढ़ निकाला तो दोनों पक्षों की एकता होने से यश मिलने में संदेह नहीं है; इस प्रकार के विचारों से भरे हुए लेख सोशियालिस्ट पक्ष के समाचारपत्रों में छपने लगे हैं। सोशियालिस्ट दल के नेता हर ह्यूने राइश्टग में भाषण करते हुए, अभी हाल में कहा था—"जर्मन नागरिकों में जो सच्चे उन्नतिवादी हैं, यदि उनके साथ मिल कर हम लोग कार्य करने लगेंगे तो लोककल्याण के कुछ न कुछ कार्य हमारे द्वारा अवश्य होंगे। सुधार का विरोध करनेवाले

लोग जिस तरह एकचित्त हो कर काम करते हैं उसी प्रकार ज्ञान और स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये जो लोग अलग अलग प्रयत्न करते हैं उन्हें मिल कर एक चित्त हो कर काम करना चाहिए।" सोशियालिस्ट लोगों की मनोवृत्ति में इस प्रकार का पलटा खाने का परिणाम यह हुआ है कि राइश्टग में इस पक्ष के सभासदों का अब तक किसी पक्ष के सभासदों से मत नहीं मिलता था, परंतु अब रेडिकल अथवा नेशनल लिबरल दल के सभासदों के साथ इनका मत मिल जाने के कारण इनके द्वारा समाज सुधार का थोड़ा बहुत कार्य भी होने लगेगा। दक्षिण जर्मनी के लोग उदारमतवादी हैं, इसी कारण शायद वहां के सोशियालिस्ट भी अधिक हठवादी नहीं हैं, और इसी कारण अन्य राजनैतिक पक्ष के लोगों के साथ मिल कर काम करने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। पार्लियामेंट में बजट पर वाद-विवाद आरंभ होने से सोशियालिस्टों को मत देने की आवश्यकता नहीं है, यह उन लोगों का मत है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि यदि वे बजट संबंधी बातों पर अपना मत प्रकट कर दें तो मानों उससे यह बात पाई जायगी कि उन्होंने वर्तमान राज्य-पद्धति को स्वीकार कर लिया है। परंतु इतना होने पर भी दक्षिण की बवरिया, वुर्टेंबुर्ग और बेडन रियासतों को सोशियालिस्ट सभासद अपने अपने प्रांत की पार्लियामेंटों में इस विषय पर बिला किसी संकोच के अपना मत प्रदर्शित करते हैं, और ऐसा करने से हम अपने पक्ष के नियमों का उल्लंघन करते हैं, यह विचार भी उनके मन में नहीं आता। परंतु उत्तरी

रियासतों के सोशियालिस्टों का कार्यक्रम इससे बिलकुल उलटा है। उनके मतानुसार बजट एक अपवित्र वस्तु है, इसके छूने से भी पाप लगता है अतएव उसका स्पर्श अपने को न होने देना चाहिए। बजट उपस्थित होने पर मत देने का समय आते ही वे लोग उठ कर चले जाते हैं। बजट पर मत देना प्रचलित राज्य-पद्धति को स्वीकार कर लेना है, यदि यही बात है तो राज्य-पद्धति द्वारा निश्चित किए हुए निर्वाचन संबंधी नियमों का वे क्यों पालन करते हैं और उन्हीं नियमों के अनुसार निर्वाचित हो कर पार्लियामेंट में आ कर क्यों बैठते हैं? यह उनकी बाल-लीला केवल हठ के कारण होती है। निश्चित किए हुए कार्यक्रम में स्थिति पर ध्यान रख कर उसमें फेर फार करने को वे लोग कभी तैयार नहीं होते। अंध-परंपरा के इसी कार्य-क्रम को बनाए रखने का बहुत बड़ा दुर्गुण सोशियालिस्ट लोगों में पाया जाता है।

सोशियालिस्ट लोगों के कार्यक्रम में प्रजातंत्र राज्य, एक विशेष महत्व की बात है। उत्तर जर्मनी के सोशियालिस्ट राजसत्ता को मानने के लिये तैयार नहीं है। परंतु दक्षिण जर्मनी के सोशियालिस्ट लोग राजा का बहुत मान करते हैं और राजघराने के लोगों को विशेष आदर की बुद्धि से देखते तथा उनके साथ आदर का व्यवहार करते हैं। राजा को पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में आनंद प्रदर्शित करने के लिये बेडन, वुर्टेंबर्ग और बवेरिया रियासतों के सोशियालिस्ट नेता राजमहलों में जाते हैं। वहां मजदूरों के घरों में सोशिया-लिस्ट नेताओं के साथ साथ राजा-रानी की तस्वीरें भी दीवारों

पर लटकती हुई पाई जाती हैं। इन बातों से यह पाया जाता है कि दक्षिण जर्मनी के सोशियालिस्ट अन्य लोगों के साथ मिल जुल कर चलते हैं और अन्य राजनैतिक पक्ष के लोगों से अपने विचारों को मिला कर चलने का प्रयत्न करते हैं। इतना होने पर भी उनके नामों को सोशियालिस्ट लोगों के रजिस्टर से अबतक किसी ने खारिज करने का साहस नहीं किया और उनको जाति के बाहर कर देने का विचार भी अब तक किसी ने प्रकट नहीं किया है। यदि सोशियालिस्ट हठवाद को त्याग कर समाजसुधार के काम को एकचित्त होकर करेंगे तो व्यवहार-शून्यता का जो दोष उनपर लगाया जाता है, वह दूर होकर उनके द्वारा समाजहित का कुछ न कुछ कार्य अवश्य होगा। परंतु वर्तमान समय की इनकी पद्धति ने जर्मन सम्राट् कैसर को भी इस पक्ष का द्वेषी बना दिया है। वे इन लोगों को अपनी परछाहीं में भी खड़ा रहने देना नहीं चाहते। सोशियालिस्ट लोगों का मूलोच्छेदन करने की बुद्धि ने उनके हृदय में घर कर लिया है। उन्हें जिस तरह पर हो सका दुःख पहुँचाता है परंतु इतना दुःख उठाने पर भी उनकी आँखें अभी आसमान पर ही हैं। सोशिया-लिस्ट लोगों के सिद्धांतों में गलतियाँ हैं, राजसत्ता वे नहीं चाहते, इतना होने पर भी नागरिकों के अनेक गुण उनमें पाए जाते हैं। अतएव उन गुणों का जितना उपयोग किया जा सकता है उतना उपयोग करने का यदि कैसर ने विचार किया तो दूध में शक्कर डालने के समान काम होगा।

सोशियालिस्ट लोगों में अब कुछ सौम्यता के चिह्न दिखाई

पड़ने लगे हैं। अतएव उनके द्वारा देशहित के कामों के होने की बहुत कुछ आशा है। परंतु इस पर यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता है कि अब तक उन लोगों द्वारा देशहित का कोई भी कार्य नहीं हुआ। प्रिंस बिस्मार्क के बाद जब कौंट काप्रिवि जर्मन प्रधान सचिव (चांसलर) नियत हुए तब व्यापार संबंधी संधि का कार्य हुआ और उसीसे जर्मनी के व्यापार और व्यवसाय ने सारे संसार को चकित ही नहीं किया वरन बड़ा धक्का पहुँचाया। उस संधि संबंध में जब राइस्टग में वाद विवाद आरंभ हुआ तब सोशियालिस्ट सभासदों ने अपना अनुकूल मत प्रदर्शित किया। यदि सोशियालिस्ट इस संधि का अनुमोदन न करते तो इसका पास होना कठिन था। स्वयं कैसर ने भी इस को स्वीकार किया है। भिन्न भिन्न रियासतों की पार्लियामेंट में और साम्राज्य सभा राइस्टग में मजदूरों अर्थात् अपने अनुयायियों के कल्याणार्थ इन लोगों ने जो प्रयत्न किए हैं वे अकथनीय है। अपने अनुयायी पक्ष के लोगों के हितार्थ जो काम इन्होंने किया, उसमें विशेषता ही क्या है, यह तो उनका कर्तव्य था, यह कहने से उनके कार्य का महत्व कुछ कम नहीं हो सकता। मजदूरों के कल्याण से ही सारे राष्ट्र का कल्याण है। राइस्टग की भिन्न भिन्न कमेटियों में अन्य लोगों की अपेक्षा इन लोगों ने मन लगा कर खूब परिश्रम के साथ अनेक काम किए हैं। राइस्टग के अन्य बहुत से सभासद अधिकारियों और राजसत्ता के दबाव में आ गए हैं परंतु सोशियालिस्ट लोग उस सभा में स्वतंत्रता से उदार तत्वों का निर्भयतापूर्वक प्रतिपादन करते हुए

दिखाई पड़ते हैं। यदि ये लोग उस सभा से अलग कर दिए जाँय तो उस सभा की दशा भी बहुत शोचनीय हो जायगी और अधिकारियों की इच्छा के विरुद्ध लोकोपयोगी एक भी कानून पास न हो सकेगा। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जो लोग सोशियालिस्ट लोगों को "समाज विध्वसंक" कहते हैं, उनका यह सिद्धांत गलत साबित होगा। उन लोगों के कुछ विचार विक्षिप्त और अव्यवहार्य हैं परंतु धीरे धीरे इनका भी वे त्याग करते जा रहे हैं और यह लक्षण उनकी भावी उन्नति का चिह्न है।

तेईसवाँ अध्याय।

पोलिश लोगों का प्रश्न।

पोलैंड का कुछ भाग जर्मनी के प्रशिया प्रांत के अंतर्गत है। वहाँ की वर्तमान राज्यव्यवस्था, वहाँ के पोलिश लोगों को पसंद नहीं है। अतएव उसमें फेरफार करने का आंदोलन होने के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे हैं। इस कारण पोलिश प्रश्न को—कम से कम प्रशिया प्रांत की दृष्टि से—विशेष महत्व प्राप्त हो गया है।

पुराने पोलैंड का जो भाग प्रशिया के अधिकार में है, उसकी सांपत्तिक स्थिति बहुत अच्छी है। वहां के लोग बुद्धिमान हैं, इस कारण उनमें राष्ट्रीय भावना बहुत प्रज्वलित है। पोलैंड का जो भाग आस्ट्रिया के पास है, उसे गलीशिया कहते हैं। उस प्रांत के लोगों को स्वराज्य का अनुभव बहुत दिनों तक मिलते रहने से वहाँ के पोलिश लोगों की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति संतोषजनक है। परंतु सांपत्तिक अवस्था और लोगों की बुद्धिमत्ता के विचार से प्रशियन पोलिश प्रांत आस्ट्रियन पोलिश प्रांत की अपेक्षा अच्छा है। रूसी पोलैंड तो इन दोनों बातों में आस्ट्रियन पोलैंड से भी पीछे है। पोलैंडवासी प्रशिया की राजसत्ता क्यों नहीं चाहते इसके भी अनेक कारण हैं। परंतु जातिभेद और धर्मभेद मुख्य कारण है।

पोसेन और वेस्ट प्राशिया में पोलिश लोगों की आबादी अधिक होने के कारण प्राशिया के इन दोनों प्रांतों को ही "पोलिश" नाम दे सकते हैं; तथापि ईस्ट प्राशिया और [illegible] प्रांत के कुछ भागों में बिलकुल पोल्स ही आबाद हैं। इस भाग में अब पोलिश आंदोलन इतना प्रबल है कि राइखस्टाग और डायट में जो अभी नया निर्वाचन हुआ है, उसमें पोलिश पक्ष के [illegible] इस प्रांत से निर्वाचित हो कर आगए हैं। इन चारों प्रांतों में पोलिश जाति और पोलिश भाषा बोलनेवाले पचीस लाख मनुष्य हैं। इसके अलावा सारी जर्मनी में, खासकर [illegible], ड्रान, साक्सन और स्वयं बर्लिन नगर में और उनके आस पास के भागों में, ये लोग फैले हुए हैं; और इनकी संख्या, इन जगहों में पांच लाख से कम नहीं है। इन लोगों से अब प्राशियन राज्य को भय उत्पन्न होगया है। परंतु सच्चा भय इन लोगों से नहीं है, ऊपर जिन दो प्रांतों का उल्लेख हुआ है, वहां के निवासियों से है।

सन् १८४६ में रूस और आस्ट्रिया में और सन् १८६३ में अकेले रूस ही में पोलिश लोगों ने विद्रोह मचाया था। उस समय उसका प्रभाव प्राशिया पर भी पड़ा था। प्राशिया के [illegible] और पोलिश विद्रोहियों के बीच कुछ झगड़ा हो गया था परंतु विद्रोहियों की तैयारी अच्छी न होने के कारण दोनों अवसरों पर प्राशिया में पोलिश-विद्रोह की अग्नि प्रज्व-लित न हो सकी। सन् १८६३ के पश्चात् प्राशिया और रूस की पोलिश प्रजा में [illegible] जो असंतोष उत्पन्न हुआ है वह भीतर ही भीतर सुलग रहा है।

पोलिश प्रांत का जो आधिभौतिक सुधार हुआ है, उसका सारा श्रेय प्रशिया को ही देना चाहिए। यह प्रांत सन् १७७२ से प्रशिया में शामिल किया गया। उस समय इस प्रांत की दशा बहुत हीन थी। यह बात पोलिश लेखक भी स्वीकार करते हैं। प्रशिया के राजा फ्रेडरिक दी ग्रेट ने अपने राजत्वकाल (सन् १७४०–१७८६) में ही इस प्रांत की दशा सुधारने का कार्य आरंभ कर दिया था। फ्रेडरिक दी ग्रेट ने सन् १७७२ से सन् १७८६ तक अर्थात् अपने राजत्वकाल के अंतिम १४ वर्षों में पोलिश प्रांत की दशा बहुत कुछ सुधार दी थी और इसका प्रमाण यह है कि इन १४ वर्षों में वहां की आबादी ५० फी सदी बढ़ गई। इनके पश्चात् जो राजा प्रशिया की गद्दी पर बैठे उन्होंने भी इस प्रांत की उन्नति की ओर बराबर उसका ध्यान रक्खा। सन् १८०६ से सन् १८१३ तक नेपोलियन ने प्रशिया में खूब ऊधम मचाया और पोलिश प्रांत भी उससे ले लिया। इन दिनों में पुनः उसकी कुछ दुर्दशा हुई, परंतु नेपोलियन के परास्त होते ही युरोप में सर्वत्र शांति का राज्य हो गया और जो प्रांत प्रशिया के हाथ से निकल गए थे, वे पुनः उसके हाथ में आ गए और उन प्रांतों के सुधार और उन्नति संबंधी कार्य पुनः आरंभ हो गए।

पहले जर्मन सम्राट् प्रथम विलियम के राजत्वकाल में (सन् १८६१ से १८८८) सन् १८६३ से पोलिश प्रांत की सांपत्तिक उन्नति बहुत शीघ्रता से होने लगी। गत चालीस पचास वर्षों में प्रशियन पोलिश लोगों की सांपत्तिक उन्नति चौगुनी हो गई है। पहले समय में पोलिश सरदार अपना

धन ऐश आराम में खर्च करते थे, परंतु अब यह दशा नहीं रही। अब उनका धन पोलिश बैंकों में आने लगा है। कृषि की प्राचीन पद्धति भी अब बदल गई है और उसका स्थान नई शास्त्रीय पद्धति ने ग्रहण कर लिया है। पुराने हल बैलों के बजाय नए औजार काम में लाए जाते हैं। छोटे छोटे किसानों की दशा बहुत कुछ सुधर गई है। बड़े बड़े खेतों में खजूर की शक्कर बनने और शराब के कारखाने खुल जाने से खेत के मालिकों को अच्छी आमदनी होने लगी है। खानों में जो अपार संपत्ति भरी पड़ी थी, उस ओर किसी का ध्यान ही न था, परंतु आज कल शास्त्रीय पद्धति से खनिज संपत्ति बाहर आने लगी है। सायलीशिया प्रांत के ऊपरी भाग में लोहे और कोयले का व्यापार बहुत बढ़ गया है। पश्चिम एशिया की नमक और लोहे की खानों से बहुत अच्छा लाभ हो रहा है। खेतों में भी हर प्रकार का अनाज अब पैदा होने लगा है। घोड़े तथा अन्य पशुओं की भी अच्छी उन्नति हो रही है। कृषि प्रदर्शनियां भी अब नियमानुसार जगह जगह पर होने लगी हैं।

सब से अधिक उन्नति का कार्य जो पोलिश प्रांतों में हुआ वह मध्यम श्रेणी के लोगों की उन्नति है। पोलैंड राष्ट्र की अधोगति का मुख्य कारण यह था कि मध्यम स्थिति के बुद्धिमान् और चतुर लोगों की संख्या वहां बहुत कम थी। पचीस तीस वर्ष पहले पोलिश शहरों में मध्यम स्थिति के लोग अधिकतर जर्मन अथवा यहूदी पाए जाते थे। आज इन लोगों को पीछे हटा कर तरुण और सुशिक्षित पोलस्थ आगे

निकल गए हैं। अब पोलस व्यापारी, अढ़तिये, दूकानदार, यंत्रकार, शिल्पकार, वैद्य, वकील और इंजीनियर आदि मध्यम स्थिति के लोग बहुतायत से पाए जाते हैं।

इस प्रांत की उन्नति के लिये सरकार दस वर्ष पीछे एक करोड़ मार्क्स (१ पौंड=२०४ मार्क्स) केवल पाठशालाओं, पुस्तकालयों, अनाथालयों, उच्च शिक्षा के लिये इमारतों—पोसेन और डांजिक सरीखे बड़े बड़े शहरों के लिये—के बनाने में खर्च करती है और इसमें विशेषता यह है कि यह क्रम अमुक वर्ष तक चलाया जाय, यह भी निश्चित नहीं किया है। इस प्रांत को धन की कमी न मालूम हो अतएव उसके लिये उचित प्रबंध सरकार द्वारा कर दिए गए हैं।

इतना होने पर भी यह प्रांत शिक्षा में उतना ही ऊंचा है जितना होना चाहिए। रूसी पोलैंड शिक्षा में बहुत पीछे है। रूसी पोलैंड में प्रति सैकड़ा बीस लोग लिखना पढ़ना जानते हैं परंतु प्रशियन पोलैंड में प्रति सैकड़ा केवल तीन मनुष्य निरक्षर हैं। कितना विलक्षण अंतर है!! अनिवार्य शिक्षा का प्रचार [illegible] कर दिया गया है। सन १८८० से जर्मन यूनिवर्सिटी में, शिक्षा पाने के लिये, पोलिश विद्यार्थी, पहले की अपेक्षा दस गुने अधिक जाने लगे हैं। पोलिश जाति के जर्मन विद्वानों ने अपनी विद्वता का प्रभाव अनेक अवसरों पर दिखलाया है। डांजिक में सरकार ने एक व्यापारिक हाई स्कूल खोलना निश्चित किया है। इस काम में सरकार आवश्यक धन लगा देने को तैयार है। इस हाई स्कूल के खुल जाने से औद्योगिक शिक्षा की प्राप्ति में बहुत कुछ आसानियां हो जायँगी।

उपरोक्त वर्णन से हमारे पाठक यह जान गए होंगे कि पोलिश प्रांतों की संपत्ति और बुद्धि बढ़ाने के काम में प्रशियन सरकार ने कितना ध्यान दिया है। इस काम में सरकार ने उदारतापूर्वक धन खर्च किया है, परंतु प्रशिया के पश्चिमी भाग की संपत्ति और वहाँ के लोगों की बुद्धिमत्ता देखने से पाया जाता है कि पोलिश प्रांतों का नंबर इन दोनों बातों में बहुत नीचा है। तौभी यदि पोलिश प्रांतों की भूत और वर्तमान स्थिति का मुकाबला किया जाय तो जमीन आसमान का अंतर पाया जायगा।

राजनैतिक मामलों में, प्रशिया का पोलिश प्रजा के साथ जैसा बर्ताव रहा, उससे उसे यश नहीं मिला। पोलिश राष्ट्रीय आकांक्षा को दबा देने का जैसा अटल व्यवहार रूस ने किया वैसा प्रशिया ने नहीं किया, यह बात सच है; परंतु एक बात अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए कि उत्तरी प्रशियन और पोल इन दोनों का एकीकारण होने के रास्ते में धर्म और जाति संबंधी कुछ ऐसी कठिनाइयां आकर उपस्थित हो गई हैं कि जिनका अनिष्ट परिणाम होकर आपस में एक दूसरे का वैमनस्य हुए बिना न रहेगा। दूसरी बात एक और है—जर्मन लोगों ने पोलस लोगों को जर्मन बनाने के जो प्रयत्न आज तक किए वे व्यवस्थित और बुद्धिमानी के न थे। सन् १७७२ से हर एक प्रशियन राजा के राजत्वकाल में, पोलस संबंधी उद्देश्य भिन्न भिन्न प्रकार का रहा है। इस विषय में, बहुत पीछे न जाकर केवल चालीस वर्ष पहले अर्थात् पहले विलियम के राजत्वकाल से अब तक जो बातें

हुई हैं, उनका उल्लेख करने से ही बहुत कुछ पता चल जायगा।

पोलिश घराने के एक सरदार की रूपवती तरुण कन्या पर राजा मोहित होगया था और उसके साथ विवाह करने की उसकी इच्छा थी। परंतु वह कन्या जर्मन जाति की न होने से उसके पिता तीसरे फ्रेडारिक विलियम ने विवाह करने की सम्मति नहीं दी। इस कारण वह विवाह न हो सका। पहले विलियम के जीवन में जब यह एक अद्भुत घटना घटित हुई तभी से उसके मन में पोलस लोगों के संबंध में एक प्रकार का प्रेम उत्पन्न होगया और यह प्रेम जीवन पर्यंत बना रहा। पोलिश सरदारों के साथ उसे विशेष प्रेम था। इस कारण, इस दयालु वृद्ध राजा के रात्वकाल में, पोलिश राजनैतिक उद्देश्य कई वर्षों तक स्नेह-भाव-युक्त रहा। उसके दरबार में, बहुत से पोलिश सरदार पाए जाते थे। पोलिश राजकाज में वह उन लोगों में से एक सरदार से सलाह मशवरा लिया करता था, जो उस तरुणी के घराने का था, जिसके साथ राजा विवाह करने को तैयार था।

परंतु सन १८७५ में प्रिंस बिस्मार्क के एक कार्य ने रोमन चर्च के धर्माधिकारी मंडल को प्राशियन सरकार के विरुद्ध कर दिया। पोलिश लोग रोमन कैथोलिक संप्रदाय के हैं। उनकी धर्मसंस्था की व्यवस्था के कुछ नियम प्राशियन सरकार ने अस्वीकार किए परंतु एक बात को जब उन लोगों ने न माना तब प्रिंस बिस्मार्क ने पोलिश प्रायमेट (धर्मगुरु) को पोसेन के जेल में भेज दिया। उसके साथ और भी अनेक धर्मोपदेशक जेल भेजे गए।

इसका परिणाम बड़ा भयानक निकला। उसी समय से पोल्स धर्म-मंडल प्रशिया का कट्टर शत्रु हो गया। उसने अपने शिष्यों में, जर्मन लोगों के संबंध में, द्वेष भाव उत्पन्न कर दिया। द्वेष का बीज एक बार लोगों के मन में उत्पन्न होजाने से वह फिर नष्ट न किया जा सका। अब उस बीज से एक बड़ा वृक्ष तैयार हो गया है। सन १८७५ में जाति द्वेष ही परस्पर वैमनस्य का कारण हुआ। परंतु उसे धर्म द्वेष का सहारा मिल जाने से उसकी शक्ति दूनी हो गई। उसी समय से पोल्स लोग जर्मन लोगों को अपना शत्रु समझने लगे हैं। यह द्वेष भाव जिस तरह अधिक बढ़ सके, उसी प्रकार का प्रयत्न पोल्स धर्म-गुरु करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ है कि नीचे दर्जे के पोल्स लोगों के मन में भी जर्मन लोगों के विषय में अव्वल नंबर का द्वेष उत्पन्न हो गया है, और यह द्वेष इतना दृढ़ हो गया है कि पोल्स लोगों के समान ही जो जर्मन कैथोलिक मतानुयायी हैं, उनसे भी वे लोग द्वेष रखते हैं। इसका प्रभाव राइशटाग और प्रशियन डाएट पर भी पड़ा है। अर्थात् इन दोनों सभाओं में पोलिश प्रांतों से जब निर्वाचित होकर सभासद आए तब उन में एक भी जर्मन कैथोलिक सभासद निर्वाचित नहीं हो सका, और दोनों सभाओं में "सेंटर" नामक जो कैथोलिक दल है, उसका पक्ष बहुत गिर गया।

इतना होने पर भी प्रिंस बिस्मार्क ने धर्म-संस्थाओं के लिये जो व्यवस्था सोची थी वह व्यवहार में नहीं लाई जा

सकी। कुछ दिनों बाद स्वयं प्रिंस बिस्मार्क ने अपनी यह भूल स्वीकार की थी, और अंत में पोप की शक्ति के सामने उन्हें अपना सर झुकाना पड़ा। परंतु आरंभ में जो भूल हुई उसका दुखदाई परिणाम सदा के लिये कायम हो गया। अर्थात् प्रोटेस्टेंट प्रशिया तथा जर्मन और रोमन कैथोलिक पोलिश प्रांतों में जो धार्मिक वाद विवाद उत्पन्न हुआ वह दिनों दिन बढ़ता ही गया। प्रशिया के राजा और जर्मन सम्राट् विलियम प्रथम के प्रति पोलिश लोगों का प्रेम थोड़ा बहुत बना रहा था परंतु विलियम दूसरे अर्थात् वर्तमान कैसर के विषय में तो उनकी मनोवृत्ति बिलकुल बदल गई है। अब बर्लिन दरबार में एक भी पोलिश सरदार दिखाई नहीं पड़ता। सन् १८९७ व ९८ में जर्मन समाचार पत्रों और राजनैतिक सलाहकारों के कहने पर कैसर और प्रशियन केबिनेट दोनों ने पोलिश प्रांतों पर अत्यंत कड़ाई का शासन करने का निश्चय किया था। प्रशियन राजसत्ता नष्ट कर देने का पोलस लोग विचार कर रहे हैं, यह बात जर्मन सम्राट् को विपक्षियों ने सुझा दी और इसी पर से उन्होंने कड़ाई करने का विचार किया था। पोलिश प्रांतों में जर्मन लोगों की अपेक्षा पोलस अधिक हैं अतएव वे जर्मन लोगों को पोलस बनाना चाहते हैं, यह बात भी किसी ने जर्मन सम्राट् को सुझा दी और यह जान कर वे और भी क्रुद्ध हो गए, परंतु जर्मन लोगों को पोलस बनाने को पोलोनिजेशन (Polonization) कहते हैं। यह "पोलोनिजेशन" क्या है, इस अवसर पर यह बात बताना भी बहुत जरूरी है।

पोलैंड में पहले के समान ही स्वतंत्र राज्य स्थापित करना पोलिश आंदोलन का मुख्य उद्देश्य है। अपना यह उद्देश्य पोलिश वक्ताओं और राजनीतिज्ञों ने अनेक बार खुले तौर पर प्रगट कर दिया है। बहुत गरम [illegible] नरम दल के नेता भी जो कुछ दिनों तक बर्लिन दरबार में रह चुके हैं इस उद्देश्य से सहमत हैं। सन १९०० में, क्रोको स्थान पर पोलिश लोगों की एक बहुत बड़ी सभा हुई थी। उस सभा में स्पष्ट रूप से अपना यह उद्देश्य उन लोगों ने प्रगट कर दिया था। इसी कारण उन लोगों का नाम कैसर ने अपने दरबारियों में से खारिज कर दिया था। प्रशिया और आस्ट्रिया के समाचारपत्रों में इस विषय पर सदा लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पोलैंड का क्षेत्र प्राचीन बाल्टिक समुद्र से ले कर काले समुद्र तक फैला हुआ था। उसका विस्तार चार लाख वर्गमील में था और आबादी तीन करोड़ पचास लाख थी। इतने बड़े विशाल राज्य को पड़ोसी राजा ने अपने स्वार्थ के लिये धूल में मिला दिया। अतएव इसे उठाने का प्रयत्न हर एक देशभक्त पोलिश करता रहता है। यह बात वहाँ के समाचार पत्र सदा प्रगट किया करते हैं। अतएव पोल्स जो कुछ कर रहे हैं वह अपने देश को स्वतंत्र बनाने के लिये कर रहे हैं, इसमें शंका नहीं है। परंतु अपने प्रयत्न को सफलीभूत बनाने के लिये वे राज्यक्रांति का अवसर ला कर उपस्थित करेंगे, यह बात समझ में नहीं आती। सन् १८६३ में उन्होंने इस प्रकार का प्रयत्न कर के देखा भी था परंतु उन्हें इसमें यश नहीं मिला, वरन हजारों मनुष्यों की जानें वृथा ही

नष्ट हुई। इस हानि से उन्हें बहुत बड़ी शिक्षा मिली और इसी कारण वे वर्तमान समय में अपना कार्य बड़ी सावधानी के साथ कर रहे हैं। अपनी शक्ति और अपनी कमजोरियों को वे सदा देखा करते हैं। उतावलेपन अथवा बिना पूरी तैयारी किए वे कोई भी साहस का काम करने को उद्यत न होंगे और न संसार की कोरी सहानुभूति पर ही वे बैठे रहनेवाले हैं। युरोप के बलवान राष्ट्रों के आगे वे अपना प्रश्न उपस्थित करेंगे या रूस में जब राज्यक्रांति होगी, उस अवसर से वे लाभ उठावेंगे, अथवा अस्ट्रिया हंगेरी के वर्तमान महाराज की मृत्यु होने से कुछ फेरफार होगा, अथवा भिन्न भिन्न राष्ट्रों में घनघोर युद्ध होकर सारे राष्ट्र कमजोर हो जाँयगे, ऐसे समय की वे लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऐसा समय आने पर पोलैंड का स्वतंत्र राज्य कैसा होना चाहिए और उसके लिये क्या कार्य किया जाना चाहिए, यह उस समय की परिस्थिति के ऊपर निर्भर है और इसी कारण वे लोग इस समय चुप चाप बैठे हैं। परंतु इस बीच में पोलिश लागों में वीरत्व उत्पन्न करना, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति के अंत:करण में जागृत करना और वर्तमान राजनैतिक आंदोलन को दृढ़ता के साथ बनाए रखना ही उन लोगों का दृढ़ संकल्प है। पोलस लोगों में जितना अधिक शिक्षा का प्रचार होगा और खास कर प्रशिया के पोलस में, उतना ही कार्य समय आने पर शीघ्रता से हो सकेगा, इसमें शंका नहीं है।

इस प्रकार रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया में पोलस लोगों

की जो स्वतंत्रता नष्ट हो गई है उसे वापस लाने का प्रयत्न जो हो रहा है उसका हमने यहां पर संक्षेप में वर्णन कर दिया और उनके कार्य-क्रम का स्वरूप भी बता दिया। ये बातें उनके नेताओं ने क्रैको, लेंबर्ग, वारसा, पोसेन और नेसन सरीखे बड़े बड़े नगरों में जो राष्ट्रीय उत्सव उन लोगों ने समय समय पर किए, उनमें स्पष्ट रूप से प्रगट कर दीं और उनकी रिपोर्ट से ही ये बातें यहां पर लिखी गई हैं अतएव इनमें भूल होना संभव नहीं है।

पोलैंड में "सोकोल्स" नाम के बहुत से कुश्ती के अखाड़े हैं। उन अखाड़ों से कसरत सीखे हुए बहुत से लोग सेना में काम करने के बहुत उपयोगी साबित हुए हैं। उन्हें वहां इसी प्रकार की शिक्षा भी दी जाती है। सन् १८१३ में नेपोलियन की सत्ता का बोझ अपने ऊपर से उतार डालने का प्रयत्न प्रशिया ने आरंभ किया था, उस समय इसी प्रकार के अखाड़े वहां मौजूद थे और वहां सीखे हुए मनुष्यों से युद्ध के लिये सेना तैयार करने में बहुत सहायता मिली थी। वर्त्तमान समय में जिस प्रकार का आंदोलन पोल्स लोगों ने आरंभ कर रक्खा है उसका वर्णन प्रशियन डायट में करते हुए एक राजमंत्री ने इन अखाड़ों को राजविद्रोह का अड्डा कहा था। इन अखाड़ों में किस प्रकार की बातें अथवा भाषण हो रहे हैं, इसके भी कई एक उदाहरण उन्होंने बतलाए थे। उन भाषणों को पढ़ कर कोई भी कह सकता है कि वे राजविद्रोह के विचारों से परिपूर्ण हैं। प्रशिया के पोलैंड प्रांत में इन अखाड़ों की संख्या दो सौ से लेकर तीन सौ तक है

और इनके मेंबरों की संख्या पचास हजार से कम नहीं है। इन सब लोगों के पास हथियार रहते हैं और इन्हें सैनिक कवायद सिखाई जाती है। गलेशिया में इन अखाड़ों की संख्या कितनी है, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। परंतु अनुमान है कि यह संख्या बहुत ऊँची है। रूसी सरकार ने भी इस संख्या को अभी तक प्रकाशित नहीं किया है। परंतु यह बात निश्चित है कि यदि भविष्यत् में पोलिश-विद्रोह उपस्थित हुआ तो इस विद्रोह को सोकोल्स में सैनिक शिक्षा पाए हुए लोगों से बहुत सहायता मिलेगी।

पोलिश साहित्य और उसमें भी खास कर कलात्मक काव्यों (Lyrical Poetry) द्वारा राष्ट्रीय जागृति को उत्तेजना मिलती है। ऐतिहासिक विषयों में "आल्हा" की बहुत अधिकता है। जिस प्रकार अपने देश में आल्हा ऊदल की वीरता का वर्णन लोग बड़े आनंद और प्रेम से गाते हैं उसी प्रकार पोल्स लोग अपने पूर्वजों की वीरात्मक कविताएँ गाते हैं। श्रोताओं पर इन कविताओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। निज की अथवा सार्वजनिक सभाओं में "आल्हा" गाए जाते हैं। इतना ही नहीं अपने पूर्वजों की वीरता जो उन्होंने जर्मन और रूस के साथ युद्ध में दिखाई थी, उनका वर्णन नए नए छंदों में करके वे सदा अपने देश भाइयों को सुनाया करते हैं। इन आल्हा पुस्तकों का मूल्य भी थोड़ा रक्खा जाता है। छोटी छोटी आल्हा पुस्तकें कम मूल्य पर बिकने से उनकी बिक्री अधिक होती है अतएव गरीब घरों तक उनकी पहुँच होती है। इन पुस्तकों के प्रचार से पोल्स

लोगों के मतों में स्वदेशाभिमान की जागृति होती है। जब इन कविताओं को लोग जाकर पढ़ते हैं तब सुननेवालों में विलक्षण स्फूर्त्ति उत्पन्न होती है और उनके मत पर तुरंत ही इसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार के भावों से भरे हुए पोलिश गद्य ग्रंथ भी बहुत पाए जाते हैं। ऐतिहासिक उप-न्यास भी इसी प्रकार के विचारों से ओत प्रोत पोलिश भाषा में मिलते हैं, जिनके पढ़ने से देशवासियों के हृदय में देशानुराग का अंकुर उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

परंतु प्रशिया में प्रतिनिधि यंत्रित राजसत्ता होने के कारण जिस प्रकार बृटिश पार्लियामेंट में आयरिश लोग भाग लेते हैं उसी प्रकार पोलस लोग भी प्रशियन डायट और जर्मन राइ-श्टाग में प्रवेश करके राजकाज में सलाह मशवरा दे सकते हैं। प्रशियन डायट और जर्मन राइश्टग में बहुत से पोलिश सभासद रहते हैं। ये सब सभासद विद्वान्, साहसी और वक्तृता में कुशल होते हैं। उन्हें पार्लियामेंट के ऐंच पेंच और दाव घात सब मालूम रहते हैं। इस कारण इनका प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। सरकार द्वारा बनाई गई पोलिश राज्य-व्यवस्था [illegible] उनके द्वारा और पोलिश नेताओं के राजनै-तिक [illegible] को [illegible] का उपहास [illegible] है।

प्रशिया के राजनैतिक विषयों में पोलिश धर्मगुरुओं का कितना महत्व है, अब इस बात पर विचार करना चाहिए। इन लोगो के मत में प्रशियन सरकार से कितना द्वेष भरा हुआ है और उसका मूल कारण क्या

है, इसका हाल पीछे बताया जा चुका है। सरकार बराबर यह उद्योग करती रहती है कि जैसे बन सके वैसे पोल्स लोगों को जर्मन बना डाला जाय। इस उद्देश पूर्ति के लिये वह पोलिश प्रांतों से पोलिश भाषा उठा देने का कड़ाई के साथ प्रयत्न कर रही है। प्रशिया में राजसत्ता का तेज प्रखर होने के कारण इंग्लैंड के समान राष्ट्र को जो उपाय कभी करना नहीं आता उसी प्रकार के अत्याचारी उपायों की योजना प्रशियन सरकार कर रही है। परंतु पोल्स लोग भी अपने प्रांतों में जर्मन भाषा का प्रचार न होने देने का प्रयत्न बराबर करते रहते हैं। इस काम में उन्हें अपने धर्मगुरुओं से बड़ी सहायता मिल रही है। इन लोगों का सामान्य लोगों पर बड़ा प्रभाव है। अतएव उनकी सहायता से जर्मन भाषा का कुण्ठ मुख करने का प्रयत्न बराबर जारी है। उन लोगों का विश्वास है कि यदि पोलिश घरों में, प्रार्थनामंदिरों में, व्यास पीठ अथवा न्यायालयों में जर्मन भाषा का एक बार प्रवेश हुआ तो फिर पोल्स लोगों को जर्मन बनाने का जो प्रयत्न प्रशियन सरकार कर रही हैं, उसे यश प्राप्त हुए बिना न रहेगा। उनका यह कथन ठीक नहीं है ऐसा कौन कह सकता है? और इस कारण जर्मन भाषा के विरूद्ध जो आंदोलन वे लोग कर रहे हैं, इस के लिये उनको कौन नाम रख सकता है?

इस आंदोलन में सचमुच उन्हें यश प्राप्त हो रहा है, इसमें शंका नहीं है। जर्मन और पोलिश दोनों भाषा जानने

वाले लोगों को सहज ही में जो धन प्राप्त हो सकता है, उसे त्याग देने के लिये वे लोग एक मत से तैयार हैं। यह बात जान कर पोल्स लोगों की स्वार्थत्याग की और इस कार्य को करानेवाले धर्मगुरुओं की प्रशंसा करनी चाहिए। पोलिश भाषा का त्याग करनेवाला देश का शत्रु है, स्वजाति का शत्रु है अथवा दूसरे के घर में रहनेवाला गुलाम है, ये बातें वे लोग स्पष्ट कहते फिरते हैं और लोग भी उनकी इन बातों को शिरोधार्य करते हैं। इसका कारण यही है कि उनका यह कथन युक्तिसंगत है। यह कल्पना लोगों के मन में जम जाने के कारण जर्मन भाषा स्वीकार करने से जो नौकरियां पोल्स लोगों को मिल जातीं अथवा जो व्यवसाय वाणिज्य वे कर सकते उससे उन्हें हाथ धोना पड़ा है।

परंतु केवल पोलिश भाषा पर ही संतुष्ट न रह कर वे चारों पोलिश प्रांतों (ईस्ट प्रशिया, वेस्ट प्रशिया, पोसेन और सयालीशिया) में जहां पोल्स लोगों की आबादी है, "पोलोनाइजेशन" का प्रयत्न कर रहे हैं और उन्हें इस प्रयत्न में यश भी प्राप्त हुआ है। पोलिश लोग सरकारी स्वास्थ्य विभाग के नियमों का पालन बहुत ही उत्तम प्रकार से करते हैं; इस कारण जर्मन लोगों की अपेक्षा उन लोगों की आबादी शीघ्रता से बढ़ रही है और इससे 'पोलोनाइजेशन' के उद्योग को बहुत लाभ पहुँच रहा है। छोटे छोटे गाँवों या देहातों में ही नहीं, बड़े बड़े शहरों में भी जर्मनों की अपेक्षा पोल्स लोगों की आबादी बढ़ी है। पोसेन, नेसन, ब्रांबर्ग, थार्न वगैरह शहरों में कुछ साल पहले जर्मन लोगों

आबाद नहीं होते। जर्मन सरकार ने इस फंड का उपयोग करने के लिये एक और युक्ति निकाली है। निज के तौर पर अथवा सरकारी तौर जब उन प्रांतो में जमीन खेत अथवा बाग नीलाम होते हैं तब वे इस फंड के धन से खरीद कर जर्मन लोगों को दिए जाते हैं, परंतु यह उद्देश्य भी पोलस लोग पूरा होने नहीं देते। नीलाम के समय जर्मनी के मुकाबले में वे मूल्य बढ़ा कर अपने देशबांधवों की जमीन जर्मन लोगों के हाथ में जाने नहीं देते। कदाचित किसी जर्मन को कुछ जमीन मिल भी गई तो उसे वहां कारो-बार करना कठिन हो जाता है। उसके साथ वे किसी प्रकार का व्यहार नहीं करते। उसके खेतों में पोलस मजदूर जाकर मजदूरी नहीं करते, बाजार में कोई चीज उसे नहीं मिलने देते। जानवरों और फसल को नष्ट कर देने का प्रयत्न करते हैं, तात्पर्य यह कि उसे हर तरह से तंग करते हैं और वह स्वतः जमीन छोड़ कर भाग जाता है। इसी कारण कोई भी जर्मन, पोलिश प्रांतो में, जमीन नीलाम लेने का साहस नहीं करता।

बहुत से लोगों का यह विचार है कि पोलिश प्रांतो में प्रशियन सरकार अत्याचार करती है। परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं मालूम होता। किन्हीं किन्हीं बातों में प्रशि-यन सरकार पोलस के साथ कठोरता का व्यवहार करती है जरूर, परंतु इस कठोरता को अत्याचार नहीं कह सकते। अब तक जो बातें हमने निःपक्षपात होकर बताई हैं उनसे पाठकों के ध्यान में यह बात अवश्य आ जायगी कि प्रशि-

यन सरकार ने, वर्तमान में जिन उपायों की योजना की है, वह केवल अपने बचाव के लिये की है। जर्मन लोगों ने जब पोलिश प्रांत को अपने अधिकार में लिया था तब उनका यह उद्देश्य था कि जर्मन भाषा, जर्मन सुधार और जर्मन ध्येय का प्रचार पोलस लोगों में किया जाय और वहां जर्मन उपनिवेश स्थापित करके अल्पसंख्यक जर्मनों की शक्ति को बढ़ाया जाय, परंतु पोलस लोगों ने "पोलोनाय-जेशन" का जो क्रम आरंभ किया है, यदि वह क्रम ऐसा ही बना रहेगा तो जर्मनों को अपना उद्देश्य त्याग देना पडेगा। वर्तमान दशा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पोलस लोगों ने जो क्रम आरंभ किया है वह बिना किसी कठिनाई के जारी रहेगा। प्रशियन सरकार इसे रोकने का विचार सोचती रहती है परंतु अब तक उसे इसमें सफलता के चिह्न दिखाई नहीं पड़ते। पचास वर्ष पहले पोलिश प्रांतों की जो सांपत्तिक स्थिति थी, वह अब चौगुनी हो गई है। अतएव अब वहां के लोगों को जर्मन बनाना बहुत कठिन और करीब करीब असंभव सा दिखाई पड़ता है। जर्मन यूनिवर्सिटियों में शिक्षा पाए हुए बुद्धिवान पोलस लोगों ने वर्तमान समय का आंदोलन अपने हाथ में ले लिया है। पोलिश जाति, पोलिश भाषा और पोलिश विचारों को दृढ़ करने के लिये वे लोग बराबर प्रयत्न करते रहते हैं, और राज्याधिकारियों के साथ शीघ्र ही दो दो हाथ होनेवाले हैं, इस विचार से वे अपने अनुयायियों को नैतिक शिक्षा की प्राप्ति के लिये उत्तेजित करते रहते हैं। प्रशियन सरकार के सामने यह

जो महत्व का प्रश्न आ उपस्थित हुआ है उससे अपना पीछा छुड़ाने अथवा अपना बचाव करने के लिये प्रयत्न करना एक बहुत आवश्यक कार्य है। परंतु इस प्रश्न को हल करने या इससे अपना पीछा छुड़ाने का सब से सरल उपाय यह है कि पोलस लोगों को "जर्मन" बनाने का प्रयत्न छोड़ कर "योग्य पोलस" बनाने का प्रयत्न करना ही उचित होगा। एक पोलस सरदार ने इस संबध में कहा था—"प्रशियन सरकार राजकाज में अतिशय दक्ष, अतिशय व्यवस्थित और अतिशय कार्यकुशल है परंतु जिन लोगों पर वह अपना प्रभुत्व चला रही है उनका अपने ऊपर प्रेम उत्पन्न करना अथवा उनके मन में अपने विषय में विश्वास उत्पन करना, यह कार्य उसे करना नहीं आता। पोलस लोगों का समूल नाश करना और उनके स्थान पर जर्मन लोगों को लाकर बसाना उसका यह सत्यानाशी क्रम बराबर जारी है।" इस कथन में बहुत कुछ सचाई है और यदि पोलस लोगों को संतुष्ट रखना है तो उनके साथ उद्दंडता का व्यवहार त्याग कर सामोपचार करने से ही प्रशिया को यश प्राप्त होना संभव है।

Printed by G. K. Gurjar at the Shri Lakshmi Narayan Press, Benares City.